DCEPA-102
भारतीय प्रशासन–II

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड : 1 स्थानीय प्रशासन

इकाई–01 क्षेत्र प्रशासन की संरचना 3

इकाई–02 जिला कलेक्टर 10

इकाई–03 पुलिस प्रशासन 15

इकाई–04 शहरी प्रशासन : नगर निगम / विकास प्राधिकरण 21

इकाई–05 पंचायती राज 28

खण्ड : 2 नागरिक और प्रशासन

इकाई–06 सामाजिक सांस्कृतिक कारक और प्रशासन 35

इकाई–07 लोक शिकायतों का निवारण 42

इकाई–08 प्रशासनिक अधिकरण 51

इकाई–09 न्यायिक प्रशासन 59

खण्ड : 3 उभरते मुद्दे

इकाई–10 केन्द्र एवं राज्यों के बीच प्रशासनिक सम्बन्ध 66

इकाई–11 विकेन्द्रीकरण विवाद 72

इकाई–12 राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारियों के बीच सम्बन्ध 78

इकाई–13 दबाव समूह 83

इकाई–14 सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ 90

इकाई–15 प्रशासनिक सुधार 98

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो0 सीमा सिंह — कुलपति / मार्गदर्शक
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 मनोज दीक्षित — सदस्य
प्रोफेसर, लोक प्रशासन विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रो0 आर0 के सप्रू — सदस्य
प्रोफेसर, 473 सेक्टर 38–ए, चण्डीगढ़

प्रो0 बी0एल0 शाह — सदस्य
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखण्ड

प्रो0 वी0 के0 राय — सदस्य
राजनीतिक विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

डॉ0 अनुभा श्रीवास्तव — (इकाई–1, 2, 3, 4, 5, 6, 10, 13, 15) सहा0 आचार्य, राजनीति विज्ञान,
हेमवती नन्दन बहुगुणा, पी0जी0 कालेज, प्रयागराज

डॉ दीपशिखा श्रीवास्तव — (इकाई–7)सहा0 आचार्य, राजनीति विज्ञान
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ सोहिनी देवी — (इकाई – 8, 9) सहा0 आचार्य, लोक प्रशासन
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

श्रीमती कामना यादव — (इकाई – 11, 12, 14) सहा0 आचार्य, राजनीति विज्ञान
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 वी0 के0 राय — राजनीतिक विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ आनंदानंद त्रिपाठी (इकाई–7,8,9,11,12,14) — सह–आचार्य, राजनीति विज्ञान
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

समन्वयक

डॉ दीपशिखा श्रीवास्तव — सहा0 आचार्य, राजनीति विज्ञान
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2023

ISBN-

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन : प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन : उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक : कुलसचिव, विनय कुमार उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2023

मुद्रक :– चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

इकाई–01 क्षेत्र प्रशासन की संरचना

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 क्षेत्र (जिला) प्रशासन की संरचना

1.3 जिला प्रशासन में जिला कलेक्टर की भूमिका

1.4 सारांश

1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.6 बोध प्रश्न

1.0 उद्देश्य

- इस इकाई को पढ़ने के बाद क्षेत्र प्रशासन किसे कहते हैं तथा इसकी संरचना के बारे में ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।
- इस अध्याय का अध्ययन करने के बाद उन सभी कारकों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जिनके कारण जिले में शान्ति व खुशहाली बनी रहती है।

1.1 प्रस्तावना

भारत का जिला प्रशासन एक दुहरी इकाई है। राज्य सरकार की राजधानी से नीचे का क्षेत्रीय प्रशासन होने के नाते जिला प्रशासन सरकार की समग्रता का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरी ओर जिला ही वह छोटी इकाई है, जो युगों से भारत में स्थानीय स्वराज्य का प्रारूप प्रस्तुत करता रहा है। इस प्रकार सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के दो महत्वपूर्ण कार्य, 'सुरक्षा' एवं 'विकास' जिला प्रशासन की परिधि में आ जाते हैं। प्रशासनिक स्वतंत्रता एवं कार्यकुशलता के लिए इसे जनसंख्या एवं भूगोल की दृष्टि से भी उपयुक्त एवं पर्याप्त इकाई माना जाना है। राज्य एवं केन्द्रीय सरकार से मिलने वाले नीति–निर्देशों को जिला प्रशासन कार्यन्वित करता है।

जिला शब्द, व्युत्पत्ति के अनुसार एक फ्रांसीसी शब्द 'डिस्ट्रिंक्ट' से लिया गया है। यह शब्द स्वयं ही मध्यकालीन लेटिन शब्द 'डिस्ट्रिंक्ट' से निकला है। इसका शाब्दिक अर्थ है न्यायिक प्रशासन के उद्देश्य से बनाया गया क्षेत्र शब्द–कोश में जिले का अर्थ किसी भी उद्देश्य विशेष के लिये किये गये प्रादेशिक विभाजन के रूप में परिभाषित किया गया है। एक समय था जब कि ग्रेट ब्रिटेन में सामन्तों के क्षेत्राधिकार के अधीन प्रदेश को जिले के नाम से पुकारा जाता था। इसका अंग्रेजी रूपान्तर सर्वप्रथम सन् 1776 में कलकत्ता जिले के दीवान के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया गया था। यहाँ अपेक्षित प्रश्न यह है कि प्रशासन शब्द से तात्पर्य क्या हैं। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने इसका अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि ''प्रशासन सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध को कहा जाता हैं।'' इसी आधार पर जिला प्रशासन को परिभाषित करते हुए एम0एस0 खेरा लिखते है कि ''जिला प्रशासन निर्धारित प्रदेश में सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध को कहते हैं।'' ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने भी जिले को विशेष प्रशासनिक उद्देश्यों के लिये निर्धारित प्रदेश के रूप में परिभाषित किया है। 'जिला प्रशासन' जिले में सरकार के पूरे कार्य करता है। यहाँ सरकार के लगभग सभी अभिकरण, व्यक्तिगत अधिकारी एवं कार्यकर्ता, सरकारी कर्मचारी आदि शामिल होते हैं। जिले में सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध में सम्बन्धित सभी संस्थाएं जैसे विभिन्न प्रकार की पंचायतें, ग्रामसभायें, न्याय पंचायतें, पंचायत समितियां, नगर–पालिकाएं, स्थानीय बोर्ड आदि होते हैं। इस प्रकार जिला प्रशासन जिले में सरकार के समस्त कार्यों का एक सामूहिक स्वरूप है तथा सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध का जटिल संगठन है।

क्षेत्रीय प्रशासन के सन्दर्भ में जिला प्रशासन न केवल एक महत्वपूर्ण इकाई है, साथ ही वह एक

सुविधाजनक भौगोलिक इकाई भी है। भारत में इस इकाई का अस्तित्व अति प्राचीन काल से रहा है। जिला प्रशासन का समर्थन मनुस्मृति जैसे अनेक ग्रन्थों में मिलता है। मनु ने प्रशासन की सामान्य प्रणाली का वर्णन करते समय अपना वर्णन गांव से शुरू किया है। प्रत्येक गांव का अपना एक अध्यक्ष होता था। हर सौ गांवों को मिला कर उनका दायित्व एक सरकारी अधिकारी को सौंप दिया जाता था।

अकबर के काल में जिले को सरकार कहा जाता था तथा इसके प्रशासक का नाम मनसबदार था। उसके पास नागरिक तथा सैनिक दोनों प्रकार की शक्तियां होती थीं। यह सूबेदार के प्रति उत्तरदाई होता था। परगना उस समय उप–जिले के समकक्ष आता था।

पुलिस की वर्तमान संरचना शनैः शनैः विकसित हुई है। आरम्भ में यह भूमिका सेना निभाती थी जो कि राज्य की तथा उसके निवासियों की आन्तरिक तथा बाहरी दुश्मनों से रक्षा करती थी। यह संस्था ही पंचायती राज इकाईयों के आदेशों के निष्पादन सम्बन्धी काम करती थी। ज्यों–ज्यों सेना की जिम्मेदारियां दिन–प्रतिदिन बढ़ने लगीं त्यों–त्यों कानून और व्यवस्था लागू करवाने के लिए एक अलग संस्था खड़ी करने की बात जोर पकड़ने लगी। स्वाधीनता के बाद में आए इस नए परिवर्तन को कुल मिलाकर हम ''उफनती हुई इच्छाओं का सैलाब'' भी कह सकते हैं। आजादी मिलने के बाद में समाज के पिछड़े व सताए हुए लोगों की भावनाएं, जिज्ञासा तथा सामाजिक व्यवस्था के प्रति लोगों की चेतना भी बढ़ी है। आर्थिक प्रगति करने तथा सामाजिक समानता लाने के अनेक कार्यक्रमों के बावजूद भी उसके परिणाम अधिक आशाजनक नहीं रहे हैं। सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में मनुष्य–मनुष्य के बीच में पाई जाने वाली खाई गहरी हुई हैं। जनसंख्या वृद्धि के कारण उद्योग–धंधों के फैलाव तथा शहरीकण के कारण ही मजदूरों में तनातनी फैलने लगती है। इस तरह अपराधियों की सैरगाह के रूप में गंदी बस्तियां पनपने लगती हैं। फिर जिस प्रकार वैज्ञानिक तथा तकनीकी खोजें हुई हैं उनके कारण से भी बड़े–बड़े तथा संगठित अपराध करने में सहायता मिलती हैं।

1.2 क्षेत्र (जिला) प्रशासन की संरचना

स्वतन्त्रता के बाद भी भारत में जिला ही क्षेत्रीय प्रशासन की मुख्य इकाई बना रहा। जहाँ तक भारतीय संविधान का प्रश्न है, उसमें कहीं भी जिले को प्रशासनिक इकाई बनाने का उल्लेख नहीं है। धारा 233 में न्यायाधीशों की नियुक्ति के प्रसंग में जिला शब्द का प्रयोग अवश्य किया गया है; किन्तु इसके अतिरिक्त कहीं भी इसका नामोल्लेख तक नहीं है। इसलिए जिले में सरकार के सभी कार्यों का संकेत अन्य कानूनी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत दिया गया है। इस स्थिति के अन्तर्गत भी जिला भारत में क्षेत्रीय प्रशासन के अन्तर्गत महत्वपूर्ण तथा सुविधाजनक इकाई बना हुआ है जिस पर कि भारत के लोक प्रशासन का ढांचा केन्द्रीभूत किया जा सकता है।

राजू कमेटी की रिपोर्ट में भी यह स्वीकार किया गया है कि जिला–स्तर पर प्रशासन के पुराने तौर तरीकों में पिछले दो दशकों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं। ये परिवर्तन न केवल तौर–तरीकों में बल्कि इसके कार्य क्षेत्र तथा लक्ष्यों में भी देखे जा सकते हैं। जिले के कुशल प्रशासन तथा सामान्य जन से सीधे सम्पर्क के लिए जिले के विभिन्न स्तरों का महत्वपूर्ण स्थान है। जिला प्रशासन का सम्पूर्ण ढांचा एक पदसोपानयुक्त व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है। सामान्यतः इसके स्तर तीन तथा कभी–कभी दो या चार भी होते हैं। वैसे अधिकांश राज्यों में जिले के तीन स्तर मिलते हैं।

प्रथम – जिला इसका मुख्यालय जिले के प्रमुख नगर में होता है।

दूसरे – जिले के किसी अन्य स्थान पर उपखण्ड का मुख्यालय।

तीसरे – तहसील कार्यालय हैं।

ये तीनों स्तर जिले में सामान्य प्रशासन की दृष्टि से बनाये जाते हैं, किन्तु विकास कार्यों के लिये अधिकतर राज्यों में प्रशासन की इकाई ब्लाक है तथा जिले के छः प्रशासनिक क्षेत्र भी स्वीकार किये गये हैं, जिसमें उपखण्ड, तहसील, गांव, नगरपालिका, ब्लॉक तथा पंचायत आते हैं। फिर भी जिले में तीन स्तरों पर चलने वाला प्रशासन एक सामान्यता है। जिला प्रशासन के तीनों चरण–स्तरों पर अधिकारी वर्ग भी उल्लेखनीय है। प्रथम स्तर का क्षेत्राधिकार सम्पूर्ण जिला है तथा इसके अधिकारी जिलाधीश, जिला कृषि अधिकारी, जिला परिषद् के अध्यक्ष, स्वास्थ्य अधिकारी इत्यादि। बड़े जिले में मध्यवर्ती स्तर भी दो पाये जाते हैं जब कि छोटे जिले में यह स्तर एक ही होता हैं। इस स्तर पर तहसील, पंचायत समिति उपखण्ड आदि मिलते हैं। इस स्तर

के प्रमुख अधिकारी तहसीलदार, विकास अधिकारी, प्रधान आदि उल्लेखनीय हैं।

जिला संभाग आयुक्त (Divisional Commissioner) जिला संभाग आयुक्त जिले के शीर्ष पर राजस्व व क्षेत्र प्रशासन की कड़ी संभाग है। संभाग जिला तथा राज्य प्रशासन के मध्य स्थित प्रशासकीय क्षेत्र है, यह तीन से छह जिलों से मिलकर बनता है। एक राज्य की दूसरे राज्य से संभाग संख्या अलग– अलग होती है। संभाग का प्रभारी अधिकारी आयुक्त कहलाता है। आयुक्त भारतीय प्रशासनिक सेवक का वरिष्ठ सदस्य होता है इस उच्च पद पर नियुक्ति के पूर्व वह जिलाधीश, कार्यपालन विभाग का प्रमुख, राज्य शासन के उपसचिव / सचिव व केंद्र शासन में एक अवधि तक कार्य करने के पश्चात अनुभव प्राप्त कर चुका होता है। आयुक्त मुख्यतया राजस्व अधिकारी होता है वह जिलाधीश तथा उसके अधीन राजस्व अधिकारियों के राजस्व तथा दंडाधिकारी दोनों क्षेत्रों का निरीक्षण करने वाले सत्ता है। भारत में काफी समय से जनसामान्य आयुक्त पद को अनावश्यक मानता आ रहा है। कुछ क्षेत्रों में यह भी देखने में आ रहा है कि इसका सामान्य जनता से सीधा संबंध बहुत कम है यह मात्र लोक सेवकों की पदोन्नति का पद है। भारत में विभिन्न राज्यों में इस पद को कुछ वर्ष तक समाप्त रखा गया और कुछ राज्यों में इसे पुनर्जीवित किया गया। आयुक्त पद की समाप्त के समर्थन में प्रमुख तर्क है कि प्रशासनिक वित्तीय तथा राजनीतिक तीनों दृष्टिकोण पर आधारित है। आयुक्त आईसीएस का वरिष्ठ सदस्य होता है अतः मितव्ययिता के आधार पर इस पद को समाप्त करने की अनुशंसा की गई। शासन बदलते परिपेक्ष में स्वयं ही इस पद की समीक्षा करता रहा है फिर भी प्रशासनिक आधार पर आयुक्त पद बनाए रखने का समर्थन किया जाता है क्योंकि जिला तथा राज्य मुख्यालय के बीच बहुमूल्य कड़ी होने के कारण यह पद बना रहना चाहिए। आयुक्त का महत्व तकनीकी विभागों के मध्य क्षेत्रीय समन्वय सत्ता को प्रतिपादित करना है इस प्रकार यह पद भारतीय जिला प्रशासन में हमेशा से महत्वपूर्ण बन रहा है।

आयुक्त के कार्य न्यायिक, विधि, सामान्य प्रशासन, विधायी विकास निरीक्षण एवं समन्वय आदि श्रेणी में वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. न्यायिक शक्ति के अंतर्गत जिला अधिकारियों के राजस्व प्रकरणों की अपील वह राजस्व एवं किरायानामा आदि विभिन्न कानून के अनुसार सुनता है।
2. विधाई शक्तियों के अंतर्गत व पुलिस क्षेत्र में प्रशासनिक आदेश भूमि अधिग्रहण, स्थानीय स्वशासन व अन्य प्रकरण आते हैं।
3. वित्तीय शक्तियों में जिले से प्राप्त अस्थायी स्थापनाओं के बजट अनुमान राज्य शासन को अग्रसारित करना शामिल है।
4. सामान्य प्रशासन में कानून व्यवस्था बनाए रखना है। इस प्रकार से संभाग आयुक्त जिला प्रशासन का एक महत्वपूर्ण अधिकारी है जो राज्य और विभिन्न जिलों के नथ्य महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में कार्य करता है।

जिला प्रशासन की बनावट के सम्बन्ध में प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपने महत्वपूर्ण विचार देते हुए वर्तमान व्यवस्था के प्रति अपना असन्तोष व्यक्त किया है। प्रशासनिक सुधार आयोग का कहना है कि इसमें कुछ ऐसे अनावश्यक स्तर है जो प्रशासन के सरल एवं सुचारू रूप से संचालन के लिए सदैव उपयोगी सिद्ध नहीं होते। आयोग के मतानुसार जिले में निर्णय लेने वाले स्तर केवल दो ही हो सकते हैं। निर्णय का निम्न स्तर तहसील में स्थित रह सकता है और उच्च स्तर जिले के मुख्यालय में बनाया जा सकता है। सरकार के आधारभूत कार्य जैसे कानून और व्यवस्था, राजस्व प्रशासन तथा विकास कार्य आदि जिला प्रशासन के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हो जाते हैं। कानून और व्यवस्था सभी प्रकार के प्रशासनों का एक महत्वपूर्ण भाग हैं। जिले के निश्चित क्षेत्र में कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिए कलेक्टर उत्तरदाई होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए समस्त शक्ति एवं संगठन उसके निर्देशन तथा नियन्त्रण में कार्य करता हैं।

परम्परागत दृष्टि से जिले में राजस्व का प्रशासन सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इस कार्य में कलेक्टर की भूमिका केन्द्रीय है। प्रारम्भ से ही उसका प्रथम कार्य भू–राजस्व एकत्रित करना रहा है। भू–राजस्व की व्यवस्था मध्ययुग से ही सभी प्रकार के प्रशासनों के लिए चुनौतीपूर्ण व्यवस्था रही है। प्राचीन एवं मध्य युगों में स्थानीय नरेश कृषि–उत्पादन का एक निश्चित भाग स्वयं ग्रहण किया करता था। इसके बदले में वह अपनी प्रजा को सुरक्षा प्रदान करता था। इस काल में राजस्व प्रशासन की दो प्रमुख विशेषताएं थी, प्रथम तो

भू–राजस्व की मात्रा भूमि की वास्तविक ऊपज पर निर्भर करती थी और दूसरे, राजा और किसान के बीच सीधा सम्बन्ध था।

जिला प्रशासन–विकास का नया सन्दर्भ :– वैसे तो विकास एवं जन–कल्याण सदैव से जिला प्रशासन के क्षेत्र रहे है; किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विशेषतः पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से विकास का जो दबाव प्रशासन पर पड़ा उसने जिला प्रशासन के सम्मुख एक नया प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। केन्द्र सरकार के निर्देशन पर पहले यह विकास प्रयास 'सामुदायिक विकास योजना' के रूप में जिला प्रशासन के साथ जोड़ा गया। कालान्तर में पंचायती राज की योजना से इस विकास आयोजना को नया अर्थ दिया गया। श्री मुखर्जी की मान्यता है कि पंचायती राज सामुदायिक विकास योजना का विस्तार है और उसकी सफलता का प्रतीक भी।

सामुदायिक विकास योजना का उद्देश्य गांवों के सामाजिक तथा आर्थिक स्तर को उन्नत करना था। ये कार्यक्रम जनता में ऐसी जागृति उत्पन्न करना चाहते थे, जो विकास कार्यों की आवश्यकताओं को स्वयं समझ सकें तथा उनकी सफलता के लिए इन योजनओं में सक्रिय योगदान दे सकें। अधिकतर राज्यों में विकास प्रशासन के लिए ब्लॉक को इकाई बनाया गया है। इसका क्षेत्र तहसील या उससे कुछ कम होता है। अतः विकास कार्य इस स्तर से आरम्भ करना अधिक आसान होता है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम 1958 से पूर्व तीन विभिन्न स्तरों पर क्रियान्वित किये जा रहे थे। इसी आधार पर लगभग सभी राज्यों में ब्लॉक के भी तीन स्तर बनाये गये थे।

1. पूर्व प्रसार स्तर
2. प्रथम स्तर
3. द्वितीय स्तर

जिला स्तर पर विकास प्रशासन की दृष्टि से जिला परिषद् जिले का सबसे उच्च और महत्वपूर्ण जनतांत्रिक संगठन है। जिला परिषद् एक प्रकार से जिले के अनुभवी लोगों का संगठन है।

जिला प्रशासन के कार्य :–

जिला प्रशासन के कार्यों और कर्तव्यों का विश्लेषण करने पर जिला प्रशासन की महत्ता स्पष्टतः लक्षित होती है। जिला प्रशासन बहुउद्देशीय कार्यक्रमों के साथ जुड़ा रहता है जिला स्तर पर विविधता पूर्ण कार्य करते हुए जिले के विकास के प्रति वचनबद्ध होता है स्थानीय शासन तंत्र के साथ सामंजस स्थापित करना, जन सहभागिता सुनिश्चित करना और सामान्य प्रशासनिक तंत्र की दक्षता को बनाए रखना जिला प्रशासन का प्रमुख कार्य है। मुगल काल से सरकार के रूप में विकसित जिला प्रशासन ब्रिटिश काल में पूर्ण विकसित हुआ। जिला प्रशासन ब्रिटिश काल में इतनी अधिक शक्तिशाली तंत्र के रूप में विकसित हुआ कि वह जिला की जनता के लिए माता–पिता कहलाने लगा। जिले के सभी लोग अपने कल्याणार्थ जिला प्रशासन की ओर आशा लगाए रहते थे। उसे समय से लेकर आज तक जिला प्रशासन अपनी गरिमा और पहचान बनाए रखा है और जिले के विकास के प्रति कटिबद्ध है।

जिला प्रशासन में इन आधारभूत–कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण कार्य तथा लक्ष्य भी समाहित हैं। जिले के इन कार्यों तथा लक्ष्यों को मुख्यतः निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता हैं।

1. जिला प्रशासन का प्रथम लक्ष्य जन सुरक्षा है। यह नागरिक तथा उसके सभी अधिकारों की रक्षा का प्रबन्ध करता है।
2. राजस्व तथा आबकारी दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि स्थानीय प्रशासन का राजस्व एवं आबकारी से निकट सम्बन्ध है।
3. राजकोष के प्रबन्ध का दायित्व भी जिला प्रशासन का कार्य है। सरकारी राजकोष के अधिकारी जिला–अधिकारी के अधीन रह कर कार्य करते हैं।
4. कृषि, सिंचाई एवं उद्योगों की व्यवस्था भी जिला प्रशासन के महत्वपूर्ण कार्यहैं।
5. खाद्य एवं नागरिक आपूर्ति अर्थात् स्थानीय नागरिकों को खाद्य एवं रसद की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध

कराने के लिएस्थानीय प्रशासन प्रबन्ध करता हैं।

6. चुनाव इत्यादि के संचालन का दात्यिव भी जिला प्रशासन का है। यह संसद, व्यवस्थापिका एवं स्थानीय संस्थाओं के लिए निर्वहन का संचालन करता है। इस कार्य के लिए प्रत्येक जिले में एक जिला चुनाव अधिकारी होता है।

7. जिला प्रशासन द्वारा स्थानीय संस्थाओं का भी संचालन किया जाता है। जिला बोर्ड, नगरपालिका, नगर निगम, पंचायतों के संगठन एवं कार्य–संचालन में जिलाधिकारी सक्रिय योगदान करते हैं। यह स्पष्ट है कि जिला प्रशासन के कार्यों की सूची अत्यन्त व्यापक है। इसके प्रत्येक कार्य की प्रकृति बहुत व्यापक है। जहां तक विकासशील राष्ट्रों का प्रसंग है वहां जिला स्तरीय कार्य अधिक दायित्वपूर्ण हो जाते हैं। सामान्य जिले के विभिन्न अभिकरणों के क्रियाकलापों का सम्बन्ध जनता की खुशी एवं खुशहाली से होता हैं। जिला प्रशासन के लक्ष्यों के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि इनमें विभिन्न अवसरों पर परिवर्तन देखा जा सकता है। प्रारम्भ में जिला प्रशासन के लक्ष्य सीमित थे। अंग्रेजी शासनकाल में ये साम्राज्यवादी हितों के पूरक रहे।

1.3 जिला प्रशासन में जिला कलेक्टर की भूमिका

ब्रिटिश शासनकाल में कलेक्टर की शक्तियां पर्याप्त रूप में बदलती रही है; किन्तु स्थानीय शासन में उसका योगदान उतना ही महत्वपूर्ण बना रहा हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कलेक्टर के पद के महत्व तथा स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। राज्य ने सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी व्यापक सेवाएं प्रदान करना आरम्भ कर दिया है। ऐसी स्थिति में कलेक्टर एक लोक–कल्याणकारी समाजवादी राज्य का सेवक बन गया हैं। जिला स्तर पर विकास अधिकारियों के रूप में जिलाधीश की स्थिति महत्वपूर्ण है। वह परिषद् का पदेन सदस्य और जिला विकास अधिकारी है। कलेक्टर के महत्वपूर्ण पद के लिए भर्ती एवं सेवा की कुछ शर्तें निर्धारित हैं।

कलेक्टर भारतीय प्रशासनिक सेवा के माध्यम से लिया जाता है। उसका पद प्रत्येक राज्य सरकार में वरिष्ठ पद होता है। यद्यपि कलेक्टर की नियुक्ति प्रारम्भ में संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है तथा भारत सरकार द्वारा उसकी सेवा शर्तों का नियमन किया जाता है, किन्तु वह राज्य सरकार के लिए कार्य करता है।उसकी नियुक्ति के लिए तीन में से कोई भी विधि अपनाई जा सकती है।

प्रथम–प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा, दूसरे राज्य की नागरिक सेवाओं से पदोन्नति द्वारा, तीसरे विशेष भर्ती द्वारा। सामान्यतः भारतीय सन्दर्भ में राज्य नागरिक सेवाओं की पदोन्नति द्वारा कलेक्टर बनाये गये हैं। कई राज्यों में यह स्थिति बढ़ी हुई देखने में आ रही हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी को सामान्यतः प्रति तीसरे वर्ष पदोन्नत या स्थानान्तरित कर दिया जाता है। प्रायः 6 से 10 वर्ष तक सेवा कर चुकने के बाद एक आई0ए0एस0 अधिकारी को कलेक्टर बनाया जाता है। भारतीय संविधान की धारा 311 द्वारा उसे कार्यालय की सुरक्षा प्रदान की गई है। इसके अनुसार भारतीय प्रशासनिक सेवा का कोई भी अधिकारी केन्द्र सरकार की अनुमति के बिना न निलम्बित किया जा सकता है और न ही पदावनत किया जा सकता हैं। कलेक्टर अपने पद की स्थिति के कारण ऐसा व्यक्ति है जिसे सावधानी के साथ भर्ती किया जाता है तथा जिसे व्यावहारिक प्रशिक्षण तथा व्यापक अनुभव दिये जाते हैं। इसका कार्यकाल सुरक्षित है तथा अखिल भारतीय स्तर का हैं।

जिलाधीश के कार्य :– कलेक्टर जिला प्रशासन का केन्द्रीय अधिकारी है। ऐसी स्थिति में उसका कार्य–क्षेत्र अति–विस्तृत है।

भू–राजस्व अधिकारी के रूप में :– कलेक्टर की हैसियत से जिलाधीश जिले के सभी महत्वपूर्ण कार्य करता है। इस पद के दायित्व पूर्ति के लिए कलेक्टर सर्वप्रथम भूमि का उचित प्रबन्ध करता है। अतः वह किसानों से लगान भू–राजस्व आदि के रूप में भूमि का किराया वसूली करता है। सरकार अपना यह कार्य कलेक्टर के माध्यम से सम्पन्न करती है। इस कार्य में कलेक्टर की सहायता एस0डी0ओ0 तहसीलदार, कानूनगो, पटवारी आदि अनेक कर्मचारियों द्वारा की जाती हैं। जिलाधीश के रूप में ही इस पदाधिकारी का एक अन्य दायित्व यह भी है कि वह भूमि सुधार, भूमि प्रबन्ध तथा भूमि अधिग्रहण सम्बन्धित कार्य करे।

जिलाधीश के रूप में :– जिलाधीश का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य जिले में संसद, विधानसभा एवं स्थानीय निकायों के निर्वाचन का सुचारू रूप से संचालन करना है। निर्वाचन विभाग भी इनसे सम्बन्धित कार्यों का प्रबन्ध

करता है। इस कार्य में जिलाधीश की सहायता जिला चुनाव अधिकारी द्वारा की जाती है। अपने इस कार्य की पूर्ति के लिए कलेक्टर विभिन्न कार्यालयों की सहायता लेता हैं। जिलाधीश ही जिला स्तर पर एक समन्वयकारी शक्ति के रूप में कार्य करता है। इसके लिए वह जिले की समन्वय समिति की बैठके बुलाता है। वह जिला परिषद् तथा जिला समितियों की बैठकों में भाग लेता हैं।

दण्डनायक के रूप में :– जिले की सम्पूर्ण कानून और व्यवस्था का दायित्व कलेक्टर का ही है। जिलाधीश के रूप में वह जिले के फौजदारी प्रशासन के लिए उत्तरदाई हैं। जिलाधीश द्वारा अनेक व्यवस्थित निरीक्षण किये जाते हैं। वह पुलिस की डायरियों का निरीक्षण करता है तथा पुलिस स्टाफ का भी निरीक्षण करता है। जिले में दौरा करते समय वह कानून और व्यवस्था की स्थिति से सम्बन्ध में, फौजदारी घटनाओं के बारे में तथा पुलिस के कार्यों के सम्बन्ध में पूछताछ करता है तथा उनके विषयों पर पुलिस अधीक्षक से विचार–विमर्श करता हैं।

राज्य सरकार के प्रतिनिधि के रूप में :– कलेक्टर सामान्य प्रशासन के विषय में सरकार का मुख्य अभिकरण है। जिला स्तर पर सामान्य रूप से वह सरकार के हितों की देखभाल करता है। वह सरकार द्वारा अथवा सरकार पर गैर–सरकारी पक्ष द्वारा किये गये मुकदमों का पर्यवेक्षण करता है। जिला अधिकारी के रूप में कलेक्टर जिला स्तर पर अनेक जनकल्याण के कार्यों को सम्पादित करता हैं। जिला स्तर पर जब कोई संकट उत्पन्न होता है, तो जिले के विभिन्न अधिकारी उसके निवारण में लग जाते हैं, किन्तु इसका मूल उत्तरदायित्व कलेक्टर पर ही होता है। कलेक्टर द्वारा जिले के प्रत्येक अधिकारी, कार्यालय एवं सेवा को इस कार्य की मदद के लिये आमन्त्रित किया जा सकता है।

जिला विकास अधिकारी के रूप में :– वह जिले के विकास कार्यक्रमों का पर्यवेक्षण करता है तथा सरकार की ओर से मुख्य समन्वयकर्ता के रूप में कार्य करता हैं। कलेक्टर पंचायती राज के अन्तर्गत प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण के सफल संचालन के लिये उत्तरदाई है। पंचायती राज संस्थाओं में कलेक्टर का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। वह जिला परिषद् का प्रमुख सदस्य होता है। सरकार के प्रतिनिधि के रूप में उसकी यह जिम्मेदारी है कि वह यह देखे कि पंचायत समितियां, जिला परिषदें और ग्राम पंचायतें सभी ठीक प्रकार से गठित की जाएं। स्पष्ट है कि कलेक्टर का विकास कार्यों में महत्वपूर्ण स्थान है।

1.4 सारांश

भारतीय प्रशासन के सम्मुख तीन विकल्प स्पष्ट दृष्टिगोचर होते है, जिन्हें नीति निर्देशक मानकर जिला प्रशासन के भावी स्वरूप पर विस्तार से विचार किया जा सकता है और धीरे–धीरे उसे राज्यों की स्थिति के अनुरूप विकसित भी किया जा सकता है। जिला प्रशासन को स्थाई रूप से राज्य सरकार का अधिकार क्षेत्र एवं उत्तरदायित्व मानकर एक सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था की जाये। जिलास्तरीय प्रशासन का सम्पूर्ण रूप से लोकतान्त्रीकरण करने के लिए संसदीय व्यवस्था को राज्यों की राजधानियों से नीचे उतार कर त्रिस्तरीय संघ व्यवस्था स्थापित की जाए। वर्तमान में हम नौकरशाही और स्वायत्त शासन दोनों में से एक को पूरी तरह चुनने में असमर्थ एवं अस्पष्ट हैं, अतः हम दोनों को मिला कर एक मिश्रित ढांचा खड़ा कर सकते हैं। इस प्रकार भविष्य में जिला–प्रशासन चाहे प्रशासनतन्त्र की ओर मुड़े या जनतन्त्र की ओर, इतना निश्चित है कि वह वर्तमान साम्राज्यवादी स्वरूप में नही रह सकता।

1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. **भारतीय प्रशासन** :– अवस्थी एण्ड अवस्थी, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
2. **भारतीय लोक प्रशासन** :– शालिनी वाधवा, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. **भारतीय प्रशासन** :– श्री राम माहेश्वरी, ओरिएण्ट लॉन्गमैन, नई दिल्ली।
4. **कार्मिक प्रशासन** :– सुरेन्द्र कटारिया, आर0बी0एस0ए0 प्रकाशक, जयपुर।
5. **भारत का प्रशासन** :– होशियार सिंह

1.6 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

1. जिलाधीश पर किसका नियंत्रण और पर्यवेक्षण होता है।

   (i) मुख्यमंत्री का (ii) जिला कलेक्टर का

   (iii) संभागीय आयुक्त का (iv) मुख्य सचिव का

2. सरकार की आँख कान तथा भुजा की भाँति जिले में कौन कार्य करता है।

   (i) संभागीय आयुक्त (ii) जिलाधीश

   (iii) जिला पुलिस अधीक्षक (iv) इनमें से कोई नहीं

लघुउत्तरीय प्रश्न :–

1. जिला प्रशासन की संरचना का वर्णन करिए।
2. एक जिले के जिलाधिकारी की शक्तियों तथा कार्यों का वर्णन करिए।

इकाई–02 जिला कलेक्टर

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 जिला कलेक्टर

2.3 जिला कलेक्टर की भर्ती एवं सेवा शर्तें

2.4 जिला कलेक्टर के कार्य

2.5 सारांश

2.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.7 बोध प्रश्न

2.0 उद्देश्य

- इस इकाई को पढ़ने के बाद जिला कलेक्टर की भर्ती एवं सेवा शर्तें एवं कार्यों के बारे में ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।
- इस अध्याय का अध्ययन करने के बाद उन सभी कारकों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जिनके कारण जिले में शान्ति व्यवस्था बनी रहती है।

2.1 प्रस्तावना

आजादी के बाद भारत में लोकतांत्रिक संसदात्मक शासन व्यवस्था अंगीकृत किया गया और शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत को अपनाया गया। इस सिद्धांत के अंतर्गत कार्यपालिका संबंधी ओर न्याय संबंधी कार्यों को पृथक् किया गया। इसका प्रभाव जिला स्तर पर भी पड़ा। कानून न्यायालय के अधीन कर दिया गया जबकि आदेश या व्यवस्था पुलिस बल के हाथ चला गया जबकि उसे कानून–व्यवस्था के प्रति जिम्मेदार बनाया गया।

जिला शब्द, व्युत्पत्ति के अनुसार एक फ्रांसीसी शब्द 'डिस्ट्रिंक्ट' से लिया गया है। यह शब्द स्वयं ही मध्यकालीन लेटिन शब्द 'डिस्ट्रिंक्ट' से निकला है। इसका शाब्दिक अर्थ है न्यायिक प्रशासन के उद्देश्य से बनाया गया क्षेत्र शब्द–कोश में जिले का अर्थ किसी भी उद्देश्य विशेष के लिये किये गये प्रादेशिक विभाजन के रूप में परिभाषित किया गया है। एक समय था जब कि ग्रेट ब्रिटेन में सामन्तों के क्षेत्राधिकार के अधीन प्रदेश को जिले के नाम से पुकारा जाता था। इसका अंग्रेजी रूपान्तर सर्वप्रथम सन् 1776 में कलकत्ता जिले के दीवान के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया गया था। यहाँ अपेक्षित प्रश्न यह है कि प्रशासन शब्द से तात्पर्य क्या हैं। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने इसका अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि ''प्रशासन सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध को कहा जाता हैं।'' इसी आधार पर जिला प्रशासन को परिभाषित करते हुए एम0एस0 खेरा लिखते है कि ''जिला प्रशासन निर्धारित प्रदेश में सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध को कहते हैं।'' ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने भी जिले को विशेष प्रशासनिक उद्देश्यों के लिये निर्धारित प्रदेश के रूप में परिभाषित किया है। 'जिला प्रशासन' जिले में सरकार के पूरे कार्य करता है। यहाँ सरकार के लगभग सभी अभिकरण, व्यक्तिगत अधिकारी एवं कार्यकर्ता, सरकारी कर्मचारी आदि शामिल होते हैं। जिले में सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध में सम्बन्धित सभी संस्थाएं जैसे विभिन्न प्रकार की पंचायतें, ग्रामसभायें, न्याय पंचायतें, पंचायत समितियां, नगर–पालिकाएं, स्थानीय बोर्ड आदि होते हैं। इस प्रकार जिला प्रशासन जिले में सरकार के समस्त कार्यों का एक सामूहिक स्वरूप है तथा सार्वजनिक कार्यों के प्रबन्ध का जटिल संगठन है।

क्षेत्रीय प्रशासन के सन्दर्भ में जिला प्रशासन न केवल एक महत्वपूर्ण इकाई है, साथ ही वह एक सुविधाजनक भौगोलिक इकाई भी है। भारत में इस इकाई का अस्तित्व अति प्राचीन काल से रहा है। जिला प्रशासन का समर्थन मनुस्मृति जैसे अनेक ग्रन्थों में मिलता है। मनु ने प्रशासन की सामान्य प्रणाली का वर्णन

करते समय अपना वर्णन गांव से शुरू किया है। प्रत्येक गांव का अपना एक अध्यक्ष होता था। हर सौ गांवों को मिला कर उनका दायित्व एक सरकारी अधिकारी को सौंप दिया जाता था।

2.2 जिला कलेक्टर

जिला अधिकारियों में सर्वाधिक केन्द्रीय तथा नियंत्रणकारी अधिकारी जिलाधीश (कलेक्टर) अतीत में भी था और वर्तमान में भी है। आज भी वह जिले का इस प्रकार प्रतिनिधित्व करता है कि जैसे सम्पूर्ण सरकार उसी में समाहित हो। मुगल काल में जिलाधीश स्तर का अधिकारी प्रशासन की सफलता का आधार स्तम्भ था। अंशकाल में भी इसका अस्तित्व आरम्भ से ही देखा जा सकता है। इसकी महत्ता को देखते हुए ही ब्रिटिश प्रशासकों ने समय–समय पर इस पद को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया था। सन् 1770 में क्लाइव ने कलेक्टर पद को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया। यद्यपि यह केवल प्रयास ही रहा। सन् 1781 में कम्पनी शासन के रूप में अतीत में भी था और वर्तमान में भी परिवर्तित स्वरूप में है।

2.3 जिला कलेक्टर की भर्ती एवं सेवा शर्तें

जिलाधीश भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई. ए. एस.) के माध्यम से लिया जाता है। उसका पद प्रत्येक राज्य सरकार में वरिष्ठ पद होता है। यद्यपि कलेक्टर की नियुक्ति प्रारम्भ में संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है तथा भारत सरकार द्वारा उसकी सेवा शर्तों का नियमन किया जाता है, किंतु वह राज्य सरकार के लिए कार्य करता है। उसकी नियुक्ति के लिए तीन में से कोई भी विधि अपनाई जा सकती है। प्रथम प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा, दूसरे राज्य की नागरिक सेवाओं से पदोन्नति द्वारा, तीसरे विशेष भर्ती द्वारा। सामान्यतः भारतीय संदर्भ में राज्य नागरिक सेवाओं की पदोन्नति द्वारा कलेक्टर बनाये गये हैं। कई राज्यों में यह स्थिति बढ़ी हुई देखने में आ रही है। प्रशासकों की सीधी भर्ती यह दिखाती है कि उनकी मांग एक कलेक्टर के पद के लिए कम है। इसका कारण यह है कि सीधी भर्ती में यह विश्वास नहीं होता कि व्यक्ति कलेक्टर के रूप में प्रभावशाली होगा अथवा नहीं क्योंकि उसे प्रशासन का अनुभव नहीं होता। भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी को सामान्यतः प्रति तीसरे वर्ष पदोन्नत या स्थानांतरित कर दिया जाता है। प्रायः 6 से 10 वर्ष तक सेवा कर चुकने के बाद एक आई.ए.एस. अधिकारी को कलेक्टर बनाया जाता है। उनकी सेवा की शर्तें जैसे वरिष्ठता का नियमन, आचरण संबंधी नियम, अनुशासन, यात्रा भत्ते आदि केन्द्र सरकार के नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं तथा राज्य सरकारों को यह मानने होते हैं। भारतीय संविधान की **धारा 311** द्वारा उसे कार्यालय की सुरक्षा प्रदान की गयी है। इसके अनुसार भारतीय प्रशासनिक सेवा का कोई भी अधिकारी केन्द्र सरकार की अनुमति के बिना न निलम्बित किया जा सकता है और न ही पदावनत किया जा सकता है। कलेक्टर अपने पद की स्थिति के कारण एक ऐसा व्यक्ति है जिसे सावधानी के साथ भर्ती किया जाता है तथा जिसे व्यावहारिक प्रशिक्षण तथा व्यापक अनुभव ने फौजदार का घर सभाण कर उसका कार्यभारकोप कर इस पद को पुनर्गठित किया। सन 1793 में कार्नवालिस के इस पद से कुछ शक्तियां छीन कर इसे पहले जितना शक्तिशाली न रहने दिया। फिर 1612 में होल्ट मैकेंजी ने तथा सन् 1633 में विलियम बैंटिक ने कलेक्टर को फिर से सशक्त बनाने के लिए और अधिक शक्तिशाली बनाने की सिफारिश की थी। 1919 में स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भी यह पद काफी महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली रहा। सन् 1944 में रॉलेट्स कमेटी ने इस पद को प्रतिष्ठावान बनाने की सिफारिश की थी। सम्पूर्ण अंग्रेजी शासनकाल में जिला स्तर पर कलेक्टर एक केन्द्रीय शक्ति के रूप में ऐसा अधिकारी रहा जो जिले की समस्त क्रियाओं को समन्वित करता था। उसकी महत्ता के लाखों शब्द वायसरायों, गवर्नरों, अंग्रेजों तथा शोध कर्ताओं द्वारा लिखे गये है।

ब्रिटिश शासन काल में कलेक्टर का पद सत्ता सम्मान, गौरव एवं भय का पद था। इसकी व्यापक शक्तियों के आतंक के कारण यह जिले की जनता के लिये सर्वेसर्वा था। जिला स्तर पर यह सरकार की समस्त शक्तियों का उपयोग किया करता था। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में यह कहा गया कि प्रत्येक जिले के शीर्ष पर एक अधिकारी होता है जिसे कुछ प्रांतों में कलेक्टर तथा कुछ प्रांतों में डिप्टी कमिश्नर के नाम से जाना जाता है। जिले के अधिकांश निवासियों की नजरों में यही सरकार होती है। ब्रिटिश शासनकाल में कलेक्टर की शक्तियां पर्याप्त रूप में बदलती रही हैं, किंतु स्थानीय शासन में उसका योगदान महत्त्वपूर्ण बना रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कलेक्टर के पद के महत्त्व तथा स्थिति में

क्रांतिकारी परिवर्तन आया। अब देश की राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तित हो गई है। राज्य ने सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी व्यापक सेवाएं प्रदान करना आरम्भ कर दिया है। ऐसी स्थिति में कलेक्टर एक लोक–कल्याणकारी समाजवादी राज्य का सेवक बन गया है। अन्य प्रशासनिक अधिकारियों के साथ उसका भी दृष्टिकोण बदलता है तथा अपने दायित्व का निर्वाह नये राजनीतिक तथा सामाजिक परिवेश में करने का अभ्यास डालना पड़ा है। ऐसी स्थिति में कलेक्टर के कायों की प्राथमिकताएं पूर्णरूपेण बदल गयी हैं। पहले कानून और व्यवस्था की स्थापना करना उसका प्रमुख कार्य था, किंतु उसके लिए अब नागरिकों के विकास तथा जन–कल्याण से संबंधित कार्य महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण तथा विकासशील राष्ट्र को अपेक्षाओं में उसके कायों को नयी महत्ता दी है। विकासशील राष्ट्र के संदर्भ में कायों का आधिक्य होने तथा कार्यों की प्रकृति तकनीकी होने के कारण कलेक्टर का कार्य समन्वय के क्षेत्र में बहुत बढ़ चुका है।

जिला कलेक्टर भारतीय प्रशासनिक सेवा के माध्यम से लिया जाता है। उसका पद प्रत्येक राज्य सरकार में वरिष्ठ पद होता है। यद्यपि कलेक्टर की नियुक्ति प्रारम्भ में संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है तथा भारत सरकार द्वारा उसकी सेवा शर्तों का नियमन किया जाता है, किन्तु वह राज्य सरकार के लिए कार्य करता है। उसकी नियुक्ति के लिए तीन में से कोई भी विधि अपनाई जा सकती है।

प्रथम – प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा, **दूसरे** राज्य की नागरिक सेवाओं से पदोन्नति द्वारा, **तीसरे** विशेष भर्ती द्वारा। सामान्यतः भारतीय सन्दर्भ में राज्य नागरिक सेवाओं की पदोन्नति द्वारा कलेक्टर बनाये गये हैं। कई राज्यों में यह स्थिति बढ़ी हुई देखने में आ रही हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी को सामान्यतः प्रति तीसरे वर्ष पदोन्नत या स्थानान्तरित कर दिया जाता है। कलेक्टर अपने पद की स्थिति के कारण ऐसा व्यक्ति है जिसे सावधानी के साथ भर्ती किया जाता है तथा जिसे व्यावहारिक प्रशिक्षण तथा व्यापक अनुभव दिये जाते हैं। इसका कार्यकाल सुरक्षित है तथा अखिल भारतीय स्तर का हैं।

2.4 जिला कलेक्टर के कार्य

मुगल काल से सरकार के रूप में विकसित जिला प्रशासन ब्रिटिश काल में पूर्ण विकसित हुआ। जिला प्रशासन ब्रिटिश काल में इतनी अधिक शक्तिशाली तंत्र के रूप में विकसित हुआ कि वह जिला की जनता के लिए माता–पिता कहलाने लगा। उस समय से लेकर आज तक जिला प्रशासन अपनी गरिमा और पहचान बनाए रखा है और जिले के विकास के प्रति कटिबद्ध है।

जिला कलेक्टर के कार्य मुख्यतः निम्नलिखित हैं:

1. जिला प्रशासन का प्रथम लक्ष्य जन सुरक्षा है। यह नागरिक तथा उसके सभी अधिकारों की रक्षा का प्रबन्ध करता है।
2. राजस्व तथा आबकारी दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि स्थानीय प्रशासन का राजस्व एवं आबकारी से निकट सम्बन्ध है।
3. कृषि, सिंचाई एवं उद्योगों की व्यवस्था भी जिला प्रशासन के महत्वपूर्ण कार्य हैं।
4. राजकोष के प्रबन्ध का दायित्व भी जिला प्रशासन का कार्य है। सरकारी राजकोष के अधिकारी जिला–अधिकारी के अधीन रह कर कार्य करते हैं।
5. खाद्य एवं नागरिक आपूर्ति अर्थात् स्थानीय नागरिकों को खाद्य एवं रसद की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध कराने के लिए स्थानीय प्रशासन प्रबन्ध करता हैं।
6. चुनाव इत्यादि के संचालन का दायित्व भी जिला प्रशासन का है। यह संसद, व्यवस्थापिका एवं स्थानीय संस्थाओं के लिए निर्वहन का संचालन करता है। इस कार्य के लिए प्रत्येक जिले में एक जिला चुनाव अधिकारी होता है।
7. जिला प्रशासन द्वारा स्थानीय संस्थाओं का भी संचालन किया जाता है। जिला बोर्ड, नगरपालिका, नगरनिगम, पंचायतों के संगठन एवं कार्य–संचालन में जिलाधिकारी सक्रिय योगदान करते हैं। यह स्पष्ट है कि जिला प्रशासन के कार्यों की सूची अत्यन्त व्यापक है। इसके प्रत्येक कार्य की प्रकृति बहुत

व्यापक है। जहां तक विकासशील राष्ट्रों का प्रसंग है वहां जिला स्तरीय कार्य अधिक दायित्वपूर्ण हो जाते हैं। सामान्य जिले के विभिन्न अभिकरणों के क्रियाकलापों का सम्बन्ध जनता की खुशी एवं खुशहाली से होता हैं। जिला प्रशासन के लक्ष्यों के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि इनमें विभिन्न अवसरों पर परिवर्तन देखा जा सकता है। प्रारम्भ में जिला प्रशासन के लक्ष्य सीमित थे। अंग्रेजी शासनकाल में ये साम्राज्यवादी हितों के पूरक रहे।

कलेक्टर जिला प्रशासन का केन्द्रीय अधिकारी है। ऐसी स्थिति में उसका कार्य–क्षेत्र अति–विस्तृत है।

- **राज्य सरकार के प्रतिनिधि के रूप में** :– कलेक्टर सामान्य प्रशासन के विषय में सरकार का मुख्य अभिकरण है। जिला स्तर पर सामान्य रूप से वह सरकार के हितों की देखभाल करता है। वह सरकार द्वारा अथवा सरकार पर गैर–सरकारी पक्ष द्वारा किये गये मुकदमों का पर्यवेक्षण करता है। जिला अधिकारी के रूप में कलेक्टर जिला स्तर पर अनेक जनकल्याण के कार्यों को सम्पादित करता हैं। जिला स्तर पर जब कोई संकट उत्पन्न होता है, तो जिले के विभिन्न अधिकारी उसके निवारण में लग जाते हैं, किन्तु इसका मूल उत्तरदायित्व कलेक्टर पर ही होता है। कलेक्टर द्वारा जिले के प्रत्येक अधिकारी, कार्यालय एवं सेवा को इस कार्य की मदद के लिये आमन्त्रित किया जा सकता है।

- **भू–राजस्व अधिकारी के रूप में** :– कलेक्टर की हैसियत से जिलाधीश जिले के सभी महत्वपूर्ण कार्य करता है। इस पद के दायित्व पूर्ति के लिए कलेक्टर सर्वप्रथम भूमि का उचित प्रबन्ध करता है। अतः वह किसानों से लगान भू–राजस्व आदि के रूप में भूमि का किराया वसूली करता है। सरकार अपना यह कार्य कलेक्टर के माध्यम से सम्पन्न करती है। इस कार्य में कलेक्टर की सहायता एस0डी0ओ0 तहसीलदार, कानूनगो, पटवारी आदि अनेक कर्मचारियों द्वारा की जाती हैं। जिलाधीश के रूप में ही इस पदाधिकारी का एक अन्य दायित्व यह भी है कि वह भूमि सुधार, भूमि प्रबन्ध तथा भूमि अधिग्रहण सम्बन्धित कार्य करे।

- **जिलाधीश के रूप में** :– जिलाधीश का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य जिले में संसद, विधानसभा एवं स्थानीय निकायों के निर्वाचन का सुचारू रूप से संचालन करना है। निर्वाचन विभाग भी इनसे सम्बन्धित कार्यों का प्रबन्ध करता है। इस कार्य में जिलाधीश की सहायता जिला चुनाव अधिकारी द्वारा की जाती है। अपने इस कार्य की पूर्ति के लिए कलेक्टर विभिन्न कार्यालयों की सहायता लेता हैं। जिलाधीश ही जिला स्तर पर एक समन्वयकारी शक्ति के रूप में कार्य करता है। इसके लिए वह जिले की समन्वय समिति की बैठके बुलाता है। वह जिला परिषद् तथा जिला समितियों की बैठकों में भाग लेता हैं।

- **दण्डनायक के रूप में** :– जिले की सम्पूर्ण कानून और व्यवस्था का दायित्व कलेक्टर का ही है। जिलाधीश के रूप में वह जिले के फौजदारी प्रशासन के लिए उत्तरदाई हैं। जिलाधीश द्वारा अनेक व्यवस्थित निरीक्षण किये जाते हैं। वह पुलिस की डायरियों का निरीक्षण करता है तथा पुलिस स्टाफ का भी निरीक्षण करता है। जिले में दौरा करते समय वह कानून और व्यवस्था की स्थिति से सम्बन्ध में, फौजदारी घटनाओं के बारे में तथा पुलिस के कार्यों के सम्बन्ध में पूछताछ करता है तथा उनके विषयों पर पुलिस अधीक्षक से विचार–विमर्श करता हैं।

- **जिला विकास अधिकारी के रूप में** :– वह जिले के विकास कार्यक्रमों का पर्यवेक्षण करता है तथा सरकार की ओर से मुख्य समन्वयकर्ता के रूप में कार्य करता हैं। कलेक्टर पंचायती राज के अन्तर्गत प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण के सफल संचालन के लिये उत्तर दाई है। पंचायती राज संस्थाओं में कलेक्टर का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। वह जिला परिषद् का प्रमुख सदस्य होता है। सरकार के प्रतिनिधि के रूप में उसकी यह जिम्मेदारी है कि वह यह देखे कि पंचायत समितियां, जिला परिषदें और ग्राम पंचायतें सभी ठीक प्रकार से गठित की जाएं। स्पष्ट है कि कलेक्टर का विकास कार्यों में महत्वपूर्ण स्थान है।

2.5 सारांश

राष्ट्रीय उद्देश्यों को पूरा करने में जिला कलेक्टर की अहम भूमिका है। जिला प्रशासन जिलाधीश के नेतृत्व में कार्य करता परंतु अपने कार्यों के संचालन के दौरान उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। कलेक्टर के पद के महत्त्व तथा स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। अब देश की राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तित हो गई है। राज्य ने सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी व्यापक सेवाएं प्रदान करना आरम्भ कर दिया है। ऐसी स्थिति में कलेक्टर एक लोक–कल्याणकारी समाजवादी राज्य का सेवक बन गया है। अन्य प्रशासनिक अधिकारियों के साथ जिला कलेक्टर अपने दायित्व का निर्वाह नये राजनीतिक तथा सामाजिक परिवेश में करने का प्रयास करता है। वर्तमान में जिला कलेक्टर के लिए नागरिकों के विकास तथा जन–कल्याण से संबंधित कार्य महत्त्वपूर्ण हो गये हैं।

2.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. **भारतीय प्रशासन** :– अवस्थी एण्ड अवस्थी, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
2. **भारतीय लोक प्रशासन** :– शालिनी वाधवा, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
3. **भारतीय प्रशासन** :– श्री राम माहेश्वरी, ओरिएण्ट लॉन्गमैन, नई दिल्ली।
4. **कार्मिक प्रशासन** :– सुरेन्द्र कटारिया, आर0बी0एस0ए0 प्रकाशक, जयपुर।
5. **भारत का प्रशासन** :– होशियार सिंह

2.7 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

1. जिला स्तर पर कानून व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व है।
   - (i) जिलाधीश का
   - (ii) उपखण्ड अधिकारी का
   - (iii) अतिरिक्त जिलाधिकारी का
   - (iv) पुलिस अधीक्षक का
2. निम्न में से क्या जिला कलेक्टर के कार्यों में सम्मिलत नही है।
   - (i) निर्वाचन के समय जिला निर्वाचन अधिकारी के रूप में कार्य
   - (ii) जिला पुलिस तंत्र पर निरीक्षण करना
   - (iii) जिले में जनगणना एवं जिला राजकोष पर नियंत्रण करना
   - (iv) जिला परिषद् की अध्यक्षता करना

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. जिला प्रशासन में जिला कलेक्टर की भूमिका की व्याख्या कीजिए।
2. जिलाधिकारी की शक्तियों तथा कार्यों का वर्णन करिए।

इकाई–03 पुलिस प्रशासन

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 भारतीय पुलिस व्यवस्था का संगठनात्मक स्वरूप

3.3 जिला स्तरीय पुलिस व्यवस्था का संगठन

3.4 थाना प्रभारी के कार्य

3.5 सारांश

3.6ण्1 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.7 बोध प्रश्न

3.0 उद्देश्य

- इस इकाई का अध्ययन करने के बाद पुलिस प्रशासन व्यवस्था के बारे में जान सकेंगे।
- इस इकाई का अध्ययन करने के बाद उन सभी कारकों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जिनके कारण जिले में कानून व्यवस्था बनी रहती है।

3.1 प्रस्तावना

पुलिस की वर्तमान संरचना धीरे–धीरे विकसित हुई है। आरम्भ में यह भूमिका सेना निभाती थी जो कि राज्य की तथा उसके निवासियों की आन्तरिक तथा बाहरी दुश्मनों से रक्षा करती थी। ज्यों–ज्यों सेना की जिम्मेदारियां दिन–प्रतिदिन बढ़ने लगीं त्यों–त्यों कानून और व्यवस्था लागू करवाने के लिए एक अलग संस्था खड़ी करने की बात जोर पकड़ने लगी। आजादी मिलने के बाद में समाज के पिछड़े व सताए हुए लोगों की भावनाएं, जिज्ञासा तथा सामाजिक व्यवस्था के प्रति लोगों की चेतना भी बढ़ी है। आर्थिक प्रगति करने तथा सामाजिक समानता लाने के अनेक कार्यक्रमों के बावजूद भी उसके परिणाम अधिक आशाजनक नहीं रहे हैं। सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में मनुष्य–मनुष्य के बीच में पाई जाने वाली खाई गहरी हुई हैं। जनसंख्या वृद्धि के कारण उद्योग–धंधों के फैलाव तथा शहरीकण के कारण ही मजदूरों में तनातनी फैलने लगती है। इस तरह अपराधियों की सैरगाह के रूप में गंदी बस्तियां पनपने लगती हैं।

स्वतंत्र भारत में पुलिस की जिम्मेदारियां पृथक प्रकार की हो गई है तथा उसे नए–नए दबावों व मांगों का सामना करना पड़ रहा है। एक ओर तो वह माहौल बदल गया है जिसके अन्तर्गत उसे काम करना पड़ रहा है, इसलिए उसे उसके अनुसार ढ़लने के लिए तैयारियां करनी होंगी। भारत में पुलिसवालों की दुविधा इसलिए भी पैदा हो जाती है क्योंकि एक ओर तो सरकारों में फेरबदल, दकियानूसी, पुराणपंथी तथा आधुनिकता के बीच टकराव तथा उनके दवाबों के कारण पुलिस परेशान होती है तो दूसरी ओर उसे माहौल में दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है, उसे समाज के सदस्य तथा पुलिस अफसर की जिम्मेदारियों के बीच तालमेल बैठाना पड़ता हैं।

3.2 भारतीय पुलिस व्यवस्था का संगठनात्मक स्वरूप

भारतीय पुलिस व्यवस्था की प्रमुखतः तीन निम्न मुख्य विशिष्टताएं रही हैं–

1. सशस्त्र तथा निःशस्त्र पुलिस कान्सटेबल–व्यवस्था,
2. राज्य आधारित पुलिस संगठन एवम्
3. क्षैतिजीय विभेदीकरण।

इन तीनों प्रमुख विशिष्टताओं से ही पुलिस प्रशासन की अन्य गौण विशेषताएं प्रगट होती हैं जो कि अनेक राज्य पुलिस संगठनों को विविध तथा भिन्न बनाते हैं। फलतः वे उनके कार्मिकी की प्रकृति को अर्द्ध–सैनिक तथा अतिशिष्ट भी बनाते हैं। भारत के वर्तमान राज्यों में जो पुलिस संगठन पाए जाते हैं वे प्राथमिक रूप से सन् 1661 के भारतीय पुलिस अधिनियम द्वारा शासित होते हैं तथा यह अधिनियम स्वयं सन् 1660 में गठित पुलिस आयोग की अनुशंसाओं (सिफारिशों) पर आधारित हैं। अधिनियम में व्यवस्था की गई है कि ''एक सामान्य पुलिस जिले (इस शब्दावली को अब राज्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता है) के पुलिस प्रशासन का समस्त कार्य संचालन पुलिस महानिरीक्षक नामक एक पदाधिकारी करेगा तथा उसकी सहायतार्थ अनेक उप–महानिरीक्षक तथा सहायक महानिरीक्षक होंगे तथा उनकी संख्या आवश्यकतानुसार निर्धारित की जाएगी।'' इस प्रकार सन् 1661 के पुलिस अधिनियम के उपरोक्त दो अनुच्छेद द्विस्तरीय पुलिस व्यवस्था की आधारशिला रखते हैं (1) राज्य स्तरीय पुलिस व्यवस्था, एवम् (2) जिला स्तरीय पुलिस राज्य की कार्यपालक भुजा के रूप में कार्य करेगी तथा उसका संचालन पुलिस महानिदेशक तथा पुलिस अधीक्षक राज्य में करेंगे। तथापि वे राज्य सरकार के पूर्ण नियन्त्रण निर्देशक तथा अधीक्षण में ही कर्त्तव्यपालन करेंगे तथा जिला स्तर पर सम्बन्धित पुलिस अधिकारी अपने–अपने कार्यक्षेत्र में जिला मजिस्ट्रेट के सामान्य नियन्त्रण एवम् निर्देशन में कार्य करेंगे।

राज्य पुलिस प्रशासन में महानिदेशक तथा महानिरीक्षक का पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है तथा वह राज्य सरकार तथा पुलिस विभाग के मध्य एक सम्पर्क–सेतु का कार्य करता है। वह राज्य सरकार के मुख्य सलाहकार के नाते निम्नांकित दायित्वों का निर्वहन करता है–

(1) वह समस्त सूचनाओं/जानकारियों के संग्रहीत करने तथा सम्प्रेषित करने हेतु राज्य सरकार के प्रति उत्तर दाई होता है। इस कार्य में उसकी सहायता उपमहानिरीक्षक (सूचना विभाग प्रभारी) करता है।

(2) वह राज्य सरकार को न केवल अपराध की स्थिति से सूचित करता है अपितु वह यह भी बतलाता है कि किस विशिष्ट प्रकृति के अपराध गम्भीर रूप ग्रहण कर रहे हैं।

(3) वह न केवल राज्य सरकार को उन सभी मामलों से अवगत कराना है जिनसे कि राज्य की सुरक्षा को संकट पैदा होने की आशंका होती है वरन् वह ऐसे प्रतिकारात्मक प्रयास भी करता है जिनके कारण कि प्रस्तुत संकट उत्पन्न हुआ हैं।

(4) उसका मुख्य प्रशासकीय कार्य होता है कि वह अपने सतत् अधीक्षण/निरीक्षण की सहायता से पुलिस संगठन में कुशलता बनाए रखे ताकि पुलिस बल अपने निम्न दो मुख्य कार्यों का भली–भांति निर्वाह कर सके, (अ) राज्य में अपराधों के शोषण तथा उनके नियन्त्रण के प्रयासकार्य, तथा (ब) कानून एवम् व्यवस्था को बनाए रखने में विषयक कार्य चूंकि वह राज्य में पुलिस विभाग अध्यक्ष होता है अतः वह पुलिस विभाग से सम्बन्धित सभी विषयों में प्रधान सलाहकार की भूमिका का निर्वहन करता है।

उप–महानिरीक्षक पुलिस :– उप–महानिरीक्षक पुलिस क्षेत्र विशेष के पुलिस प्रशासन अथवा पुलिस विभाग की विशिष्ट शाखा का प्रभारी होता है तथा वह गुप्तचर शाखा, राज्य सशस्त्र पुलिस, डाकू विरोधी दल, पुलिस प्रशिक्षण विद्यालय तथा अन्य शाखाओं का प्रभारी होता है। प्रत्येक रेन्ज में उसके आकार तथा महत्व के आधार पर चार से छः तक जिले समाहित किए जाते हैं। प्रत्येक राज्य में उनकी संख्या दो से आठ या दस तक होती है। प्रत्येक रेन्ज का प्रभारी एक उप–महानिरीक्षक पुलिस को बनाया गया है जो कि रेन्ज विशेष के मुखिया के अलावा उसे पुलिस विभाग की विशिष्ट शाखा का अध्यक्ष अथवा मुखिया भी बनाया जाता है। विशिष्ट शाखा के अध्यक्ष अथवा मुखिया के पद पर आजकल अधिकांश डी0आई0जी0 से पदोन्नति पुलिस महानिरीक्षकों को नियुक्त किया जाने लगा है।

पुलिस उप–महानिरीक्षक के कर्त्तव्य :– चूंकि पुलिस उप–महानिरीक्षक रेन्ज विशेष का मुखिया होता है जो कि राज्य सरकार तथा जिला प्रशासन के मध्य समन्वय तथा समझौता कराने की भूमिका निभाता है। वह महानिदेशक के सहायक का भी काम करता है जो कि अपने कर्त्तव्यों में से कुछ कार्य उसे प्रत्यायोजित करता है। वह मुख्य रूप से निम्नांकित भूमिकाओं का निर्वहन करता है–

(1) वह अपने नियन्त्रण के अधीन पुलिस बल में कुशलता बनाए रखने के लिए उत्तर दाई होता है जिनका कि वह समय–समय पर निरीक्षण कार्य करता है।

(2) अपनी रेन्ज में उसका यह भी कर्त्तव्य होता है कि वह अपने अधीन कार्यरत पुलिस अधीक्षकों के उन कार्यों का अधीक्षण करे जो कि वे अपराध के अन्वेषण तथा नियन्त्रण के क्षेत्र में कार्य करते हैं।

(3) वह अपने रेन्ज/विभाग/शाखा के समस्त महत्वपूर्ण घटनाक्रमों से भी पुलिस महानिदेशक को समय–समय पर अवगत कराता रहता है।

(4) वह अपनी रेन्ज/विभाग के पुलिस कर्मचारियों के निवास–व्यवस्था की भी देखभाल करता है।

(5) वह अपनी रेन्ज/विभाग के पुलिस के अधीक्षकों तथा उनके समकक्षों द्वारा किए खर्चों की भी जांच–पड़ताल करता है। वह अपने नियन्त्रण के अधीन कार्यरत पुलिस बल में अनुशासन बनाए रखने के लिए भी उत्तर दाई होता है।

इस प्रकार, उपरोक्त कार्यों, कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों के निर्वहन में पुलिस उप–महानिरीक्षक को दोहरी भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। एक ओर तो वह पुलिस महानिदेशक के सलाहकार की भूमिका निभाता है तो दूसरी ओर वह अपने क्षेत्र (जिसमें कि अनेक जिला पुलिस संगठनों का समवेश होता है) का मुख्याधिकारी के दायित्वों का निर्वाह करता है।

3.3 जिला स्तरीय पुलिस व्यवस्था का संगठन

जिले में जिला पुलिस अधीक्षक ही पुलिस बल का प्रधान होता है। वह न केवल पुलिस बल में अनुशासन तथा कौशल बनाए रखने के लिए उत्तर दाई होता है, वरन् उसका कर्त्तव्य यह भी देखना होता है कि पुलिस बल अपनी भूमिकाओं का दायित्व भी उचित रीति से निभाए। जहां मद्रास, बम्बई, मध्य प्रदेश, हैदरबाद तथा कर्नाटक जैसे राज्यों में उसे जिला पुलिस अधीक्षक कहा जाता है वहां उसे पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा तथा असम में मात्र पुलिस अधीक्षक की संज्ञा दी जाती हैं। जिला पुलिस अधीक्षक को एक जिले के सम्बन्ध में विभिन्न कर्तव्यों का निर्वहन करना पड़ता हैं।

(1) वह समय–समय पर पुलिस थानों से अपराधों की जानकारी प्राप्त करता रहता है तथा उनके निपटाने की भी सूचना लेता रहता है। गम्भीर अपराध घटने पर वह स्वयं घटनास्थल पर जाकर स्थिति का विवरण प्राप्त करता है।

(2) जिले के समस्त पुलिस कार्मिक उसके अधीनस्थ होते हैं तथा वह उनके कार्यकलापों पर अपनी टिप्पणियां भी देता रहता हैं। वह जनता से भी सम्पर्क बनाए रखता है।

(3) जहां तक प्रशासकीय दायित्वों का प्रश्न है यह उसका दायित्व है कि वह पुलिस बल में अनुशासन बनाए रखे। वह यह भी देखता है कि भवनों की देखभाल ध्यानपूर्वक करे तथा अकुशल लोगों को वह दण्डित भी करें।

(4) उसे प्रथम सूचनाओं की रिपोर्ट भी प्रेषित की जाती है तथा गम्भीर अपराधों के मामलों में हुई प्रगति रिपोर्टों से भी अवगत कराया जाता है ताकि वह उन्हें पुलिस महानिदेशक तथा जिला रजिस्ट्रेट को प्रेषित कर सके तथा की गई व्यवस्थाओं से परिचित करा सके।

पुलिस थाना :– पुलिस थाने का अध्यक्ष प्रायः निरीक्षक तथा अनेक बार उप–निरीक्षक के स्तर का अधिकारी होता है जिसे हम थाने का प्रभारी या थानेदार कहते हैं। उसके जितने भी कार्य, कर्त्तव्य तथा शक्तियां होती हैं उनका विशुद्ध विवरण हमें अपराधी दण्ड संहिता में मिलता है। अपराध दण्ड संहिता के अनुच्छेद 551 में यह लिखा है ''पुलिस थाने के प्रभारी अधिकारी से उच्च स्तरीय (पुलिस) अधिकारियों को स्थानीय क्षेत्र में वे सभी शक्तियां व्यवहृत करने का अधिकार प्राप्त है जिनका कि प्रयोग वह थाना अधिकारी अपने थाने में करता हैं।'' थाना भारी की सहायतार्थ अनेक कनिष्ठ उप–निरीक्षक, सहायक उप–निरीक्षक, मुख्य कॉन्स्टेबल तथा अन्य कान्स्टेबल होते हैं। उनकी शक्ति/संख्या थाने के क्षेत्रानुसार घटती बढ़ती रहती है। प्रायः एक थाने के अन्तर्गत 25 के लेकर 150 तक ग्राम होते हैं।

3.4 थाना प्रभारी के कार्य

यह थाना अधिकारी/प्रभारी का दायित्व है कि वह अपने निश्चित वृत्त की सामान्य दशा से अवगत रहे

ताकि वह न केवल अपराध की घटनाओं को घटने से रोक सके वरन् वह अपराधियों को न्यायाधीश के समक्ष भी प्रस्तुत करता रहे। वह दुराचारियों की गतिविधियों पर भी पूरा ध्यान रखता है ताकि वह अपराधों को नियन्त्रित करता रहे। इनके अतिरिक्त थाना प्रभारी पुलिस भूमिका से सम्बन्धित अन्य अनेक कार्य भी करता है। पुलिस थाने में अनेक भांति के लेखादि तथा पंजीयन पुस्तिकाएं भी सम्भाल कर रखे जाते हैं।

(1) सामान्य डायरी–इसमें दिन–प्रतिदिन की पुलिस कार्यवाहियों तथा घटनाक्रमों को पंजीकृत किया जाता है।

(2) प्रथम सूचना रिपोर्ट पुस्तिका–इसमें समवेक्षणीय अपराधों की रिपोर्टों को अंकित किया जाता है।

(3) वाद पुस्तिका–इस पुस्तिका में समवेक्षणीय अपराधों की जांच–पड़ताल में हुई प्रगति दर्शाने का विवरण अंकित किया जाता है।

(4) ग्रामीण अपराध दर्शिका पुस्तिका–जो महत्व ग्राम में राजस्व के प्रसंग में भूमि विवरण का होता है वही महत्व पुलिस में इस पुस्तिका का होता है।

(5) कुख्यात अपराधियों की विवरणिका–यदि तर्कसम्मत दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगे कि अमुक व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अपराधी प्रवत्ति का हो गया है तथा वह गम्भीर अपराधों यथा चोरी, जेबकटी, पशु चराने तथा सम्पत्ति हरण के कार्यकलापों में प्रवृत्त रहता है तो पुलिस ऐसे कुख्यात अपराधियों के नाम की एक विवरणिका तैयार करने लगती है पुलिस थाना राज्य में पुलिस प्रशासन की प्राथमिक इकाई होता

पुलिस बल के राजपत्रित अधिकारी :– पुलिस बल के राजपत्रित अधिकारियों की सूची इस प्रकार है :–

1. पुलिस महानिदेशक
2. पुलिस महानिरीक्षक
3. पुलिस उप–महानिरीक्षक
4. पुलिस अधीक्षक
5. पुलिस सह–अधीक्षक
6. पुलिस उप–अधीक्षक

पुलिस बल के अराजपत्रित अधिकारीगण निम्नांकित हैं :–

1. निरीक्षक
2. सार्जेन्ट्स
3. उप–निरीक्षक
4. मुख्य कॉन्स्टेबल
5. नायक
6. सिपाही

पुलिस बल की विविध भााखाओं का निम्न प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं, ये भााखाएं हैं :–

(अ) नागरिक पुलिस

(ब) अश्वारोही पुलिस

(स) सशस्त्र पुलिस

(द) विशिष्ट सशस्त्र पुलिस

(उ) यातायात / परिवहन पुलिस

(ऊ) जिला गुप्तचर सेवी वर्ग

(ए) अभियोजन शाखा

(ऐ) रेलवे पुलिस

(ओ) अपराधी अनुसंधान विभाग।

पुलिस के केडर :– जहाँ तक पुलिस महानिदेशक/पुलिस महानिरीक्षक, पुलिस उप–महानिरीक्षक, जिला पुलिस अधीक्षक, सह–पुलिस अधीक्षक जैसे पदों का सम्बन्ध है समस्त पद भारतीय पुलिस संहिता की देन कहे जा सकते हैं। इन सभी अधिकारियों का चयन भारत सरकार केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के माध्यम से करती है तथा जिन्हें प्रारम्भ में ही केन्द्रीय पुलिस प्रशिक्षण संस्थान, हैदराबाद में प्रशिक्षित किया जाता है। उसके पश्चात् उन्हें पुनः राज्य पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालय तथा जिलों में जिला पुलिस अधीक्षकों के अधीन अनुवीक्षा अवधि में दीक्षित व प्रशिक्षित किया जाता हैं। जिन्हें प्रायः जिला पुलिस अधीक्षक ही चयनित करते हैं तथा जिन्हें राज्य पुलिस प्रशिक्षण विद्यालय में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। इनके चयन की कार्यविधि हर राज्य में भिन्न–भिन्न प्रकृति की होती है पर चयन के पश्चात् उन्हें राज्य पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालयों में सावधानी से दीक्षित किया जाता हैं।

कार्य प्रणाली :– ज्यों ही अपराध घटित होता है त्यों ही अपराध से प्रताड़ित व्यक्ति सम्बन्धित थाने में प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करता है। वह अपने पक्ष की सूचनाएं अंकित करवाता है अथवा क्षेत्र का पुलिस अधिकारी अथवा चौकीदार अथवा कॉन्स्टेबल या ग्रामाधिकारी या अन्य कोई भी व्यक्ति अपराध घटने की सूचना अंकित कराता हैं। मजिस्ट्रेट के आदेश के पश्चात् पुलिस को वे सभी शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं कि वह बिना मजिस्ट्रेट की आज्ञा से किसी को हिरासत में नही ले सकती हैं। अपराध अध्ययन तथा अन्वेषण की अवधि में हिरासत, जमानत, अभिरक्षा वापिस भेजने तथा जाँच–पड़ताल परक कानून अपनी–अपनी भूमिकाएं निभाने लगते हैं। जिनका विवरण इस प्रकार हैं–

- हिरासत प्रसंग
- जमानत अधिकार
- अभिरक्षा प्रश्न
- मजिस्ट्रेट द्वारा वापिस भेजने का अधिकार
- जांच–पड़ताल परक कानून

कानून एवम् व्यवस्था विषयक कार्य :– इन कर्त्तव्यों का प्रत्यक्ष किसी विशिष्ट प्रकार के अपराध से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसका सम्बन्ध वे सामान्य कानून एवम् व्यवस्था से होता है जिसे कि गैर–अपराध मनोभावों द्वारा भी भंग किया जा सकता है। पुलिस सदैव स्थिति पर पूरा ध्यान रखती है तथा वह निम्नांकित प्रसंगों में उनके नियन्त्रण की दिशा में अनेक प्रयास करती रहती है–

(1) साम्प्रदायिक स्थिति,

(2) उत्सवों के प्रसंग,

(3) कृषिपरक संकट,

(4) औद्योगिक अशान्ति के अवसर,

(5) विद्रोही राजनीतिक दल, तथा

(6) अन्य

अन्य कार्य :– इसके अतिरिक्त पुलिस निम्नांकित भूमिकाएं निभाती है–

(1) गश्त, नियुक्ति, रक्षा तथा सहयात्रा के लिए व्यवस्था करना।

(2) आपराधिक न्यायालयों की प्रक्रियाओं का कार्यपालन करना।

(3) भीड़ एवम् यातायात के नियमन का प्रयास करना।

(4) मेलों तथा अन्य समारोहों में कर्त्तव्यों का निर्वाह करना।

(5) जन्म तथा मरण की रिपोर्ट प्रस्तुत करना।

(6) विविध राज्य तथा स्थानीय शासन के अनेक कानूनों के निर्वहन कराने का उत्तरदायित्व भी उसी का होता है।

3.5 सारांश

भारत में पुलिस का इतिहास एक राजशाही सरकार की आवश्यकताओं और बदलती प्राथमिकताओं तथा संदर्भों का विवरण है। स्वतंत्रता के बाद भारत ने पुलिस संगठन के बुनियादी ढांचे को बनाये रखा, लेकिन पुलिस व्यवस्था की प्रकृति समय के साथ काफी बदल गई। एक संस्था के रूप में पुलिस प्रशासन आज जिस रूप में विद्यमान है, उसे यह हासिल करने में कई शताब्दियां लगी हैं। भारत में यह व्यवस्था एक स्वतंत्र प्रशासनिक संस्थान के रूप में कार्य करती है। यह केवल ब्रिटिश औपनिवेशिक काल के दौरान विकसित हुई, जो काफी हद तक मध्यकालीन युग के दौरान प्रचलित विभिन्न विशेषताओं का मिलाजुला रूप था और कुछ ब्रिटिश कानून और व्यवस्था की संरचना से लिया गया था। वर्तमान पुलिस प्रणाली में भी संरचनात्मक और कार्यात्मक रूप से औपनिवेशिक शासकों द्वारा प्रख्यापित विभिन्न अधिनियमों का प्रभाव है।

3.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6. **भारतीय प्रशासन** :— अवस्थी एण्ड अवस्थी, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
7. **भारतीय लोक प्रशासन** :— शालिनी वाधवा, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
8. **भारतीय प्रशासन** :— श्री राम माहेश्वरी, ओरिएण्ट लॉन्गमैन, नई दिल्ली।
9. **कार्मिक प्रशासन** :— सुरेन्द्र कटारिया, आर0बी0एस0ए0 प्रकाशक, जयपुर।
10. **भारत का प्रशासन** :— होशियार सिंह

3.7 बोध प्रश्न

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. भारत में पुलिस प्रशासन की भूमिका का वर्णन करिए।
2. भारत में कानून व्यवस्था बनाये रखने में केन्द्रीय तथा राज्य स्तर पर पुलिस प्रशासन की भूमिका पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
3. भारत में पुलिस प्रशासन की संगठनात्मक संरचना की व्याख्या करिए।

इकाई–04 शहरी प्रशासन : नगर निगम / विकास प्राधिकरण

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 ग्रामीण एवं शहरी प्रशासन
4.3 नगर निगम
4.4 सारांश
4.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.6 बोध प्रश्न

4.0 उद्देश्य

- इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् हम शहरी प्रशासन तथा संविधान में उसका उल्लेख कहा मिलता के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- नगर निगम एवं ग्रामीण विकास से जुड़ी विभिन्न योजनाओं के सम्बन्ध में विस्तार से जान पायेंगे।

4.1 प्रस्तावना

स्थानीय स्वशासन के क्षेत्र में हमारा अतीत तो शानदार रहा ही हैं, आधुनिक काल में भी हमारे यहाँ एक प्रभावी पंचायती राज व्यवस्था अस्तित्व में है। स्थानीय स्वशासन हमारे यहाँ धीरे–धीरे विकसित हुआ है। इस दिशा में काफी उतार–चढ़ाव आए। प्रारम्भ में हमारे यहां सामुदायिक विकास कार्यक्रम शुरू किए गए थे लेकिन इसके अपेक्षित नजीते नहीं निकल सके। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया तभी अपने उद्देश्यों में सफल हो सकती है जब गांव के लोग अपनी समस्याओं का स्वयं निराकरण करें, अपने बारे में स्वयं निर्णय करें और कार्यक्रमों का क्रियान्वयन भी स्वयं करें।

4.2 ग्रामीण प्रशासन और शहरी प्रशासन

आज भारत के अधिकतर राज्यों में पंचायती राज व्यवस्था लागू है। इस व्यवस्था में स्थानीय स्वशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम पंचायत होती है। जिसके अन्तर्गत एक या एकाधिक गांव आते हैं। पंचायती राज की त्रिस्तरीय व्यवस्था में निम्नलिखित इकाइयां होती हैं–

- ग्राम पंचायत
- क्षेत्र पंचायत
- जिला पंचायत

ग्राम सभा और ग्राम पंचायत – किसी गांव के सभी वयस्क मतदाताओं (ग्रामीणों) को मिला कर ग्राम सभा का गठन किया जाता है। इस प्रकार किसी गांव या छोटे–छोटे कुछ गांवों के सभी वयस्कों (16 वर्ष से ऊपर के ग्रामीण) को मिला कर ग्राम सभा का गठन किया जाता है। ग्राम सभा के सदस्य परस्पर मिल कर ग्राम पंचायत का चुनाव करते हैं। प्रत्येक ग्राम पंचायत में एक मुखिया होता है जिसे सरपंच या प्रधान कहा जाता है। इसके अलावा कुछ पंच या सदस्य होते हैं। इन पंचों की संख्या 5 से 15 तक हो सकती है। ग्राम पंचायतों का कार्यकाल विभिन्न राज्यों में अलग–अलग होता है जो 3 साल से 5 साल तक हो सकता है। उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि गांव के व्यस्क निवासियों की सभा को ग्राम सभा कहा जाता है जो ग्राम पंचायत के लिए प्रधान और अन्य सदस्यों का चुनाव करती है। ग्राम सभा स्थायी होती है जो सदैव बड़ी रहती है जबकि ग्राम पंचायत का एक निश्चित कार्यकाल होता है और समय–समय पर इसके चुनाव होते रहते हैं। ग्राम पंचायत, ग्राम सभा

की कार्यकारी संस्था होती है और ग्राम सभा, ग्राम पंचायत के कार्यों पंचायत, ग्राम के कार्यों का निरीक्षण करती है। ग्राम पंचायत मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रकार के कार्य करती है–

- नागरिकों को सुविधाएं उपलब्ध कराना
- समाज–कल्याण के कार्य करना
- विकास के कार्य करना

प्रत्येक राज्य में अलग–अलग पंचायत कानून हैं लेकिन लगभग सभी राज्य सरकारों ने ऐसे प्रावधान कर रखे हैं ताकि सरकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नियंत्रण पंचायतों पर बना रहे। जिला अधिकारियों को अधिकार होता है कि वे पंचायतों के कार्यों का निरीक्षण कर सकते हैं और जरूरत पड़ने पर पंचायतों को भंग भी कर सकतें हैं। कुछ राज्यों में पंचायतों पर नजर रखने के लिए जिला स्तर पर जिला पंचायत अधिकारियों की नियुक्ति की गयी है तो कही–कही राज्य स्तर पर अलग से पंचायत विभाग बनाए गए हैं। कुछ राज्यों में ग्राम सभाओं या ग्राम पंचायतों के लिए न्याय पंचायतें भी बनाई गयी हैं। ये न्याय पंचायतें ग्रामीणों के छोटे–छोटे सिविल और आपराधिक विवाद सुनती हैं और अपना फैसला सुनाती हैं। किसी आरोपी को दोषी पाये जाने पर ये आर्थिक दण्ड तो लगा सकती हैं लेकिन कारावास की सजा नहीं दे सकती हैं। न्याय पंचायतों का उद्देश्य है कि छोटी–छोटी वजहों से ग्रामीणों को पुलिस और अदालतों के चक्कर न काटने पड़ें और उनके मामले गांव स्तर पर ही सुलझ जाएं। इन न्याय पंचायतों का चुनाव सम्बन्धित ग्राम पंचायतों ही करती हैं।

पंचायत समितियां :– भारत में त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था लागू है। इसके अन्तर्गत सबसे छोटी इकाई ग्राम पंचायत होती है जबकि सबसे ऊपर जिला पंचायत होती है। इन दोनों स्तरों के बीच परस्पर समन्वय का काम पंचायत समितियां करती हैं।

पंचायत समिति का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी, खण्ड विकास अधिकारी (बी0डी0ओ0) कहलाता है जिसके तहत कुछ सहायक अधिकारी व कर्मचारी काम करते हैं। पंचायत समिति द्वारा तैयार किये गए कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करना खण्ड विकास अधिकारी की ही जिम्मेदारी होती है। पंचायत समितियां मुख्य रूप से राज्य सरकार द्वारा दिए गए अनुदान से ही अपना खर्च चलाती हैं। राज्य के बजट में प्रत्येक ब्लाक खण्ड के लिए अलग से धन आवंटित किया जाता है। इसी आवंटित धन का उपयोग पंचायत समितियां करती है।

जिला परिषद :– भारतीय पंचायत व्यवस्था की सबसे उच्च इकाई जिला–परिषद् होती है। इसी के अन्तर्गत सभी पंचायत समितियां और ग्राम पंचायतें काम करती हैं। सभी राज्यों में जिला परिषदों की संरचना लगभग समान होती है। जिला परिषदों का गठन निम्नलिखित लोगों को मिला कर किया गया है–

- सम्बन्धित सभी पंचायत समितियों के प्रधान
- जिले के सभी विधानसभा सदस्य
- जिले के सभी संसद सदस्य
- जिला विकास अधिकारी
- अनुसूचित जाति व जनजाति के नामित सदस्य
- महिला और पिछड़े वर्ग के नामित सदस्य
- जिला सहकारी बैंक के अध्यक्ष

जिला विकास अधिकारी, जिला पंचायत की बैठकों में तो भाग लेना है लेकिन उसे मताधिकार प्राप्त नहीं होता है। जिला परिषद् अपने एक अध्यक्ष का चुनाव भी करती है। जिला परिषद् आमतौर पर निम्नलिखित कार्य करती है–

- पंचायत समितियों के विकास कार्यों की समीक्षा
- विकास कार्यक्रमों व योजनाओं के मध्य परस्पर समन्वय

- राज्य सरकार से प्राप्त अनुदान को सम्बन्धित पंचायत समितियों के बीच वितरित करना।
- पंचायत समितियों के बजट का निरीक्षण
- पंचायत समितियों के कार्यों की समीक्षा करके उसकी रिपोर्ट राज्य सरकार को प्रेषित करना।
- पंचायत समितियों और ग्राम पंचायतों के अध्यक्षों/प्रधानों की बैठक आयोजित करवाना ताकि समन्वय स्थापित किया जा कसें।
- प्रौढ़ शिक्षा व प्राथमिक शिक्षा के कार्यों पर नजर रखना

वर्तमान त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था बलवंतराय मेहता समिति की सिफारिशों के अनुरूप हैं।

शहरी प्रशासन :— नगरीकरण की तेज प्रक्रिया, नगरीय समस्याओं में निरन्तर वृद्धि तथा कार्यों में अप्रत्याशित बढ़ोत्तरी के कारण नगरीय शासन जटिल और कठिन हो गया है। अब नगरीय सरकार से विभिन्न कल्याणकारी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में स्थानीय सहयोग प्राप्त करने की भी आशा की जाती है। नगरीय शासन स्थानीय लोगों के लिये अनिवार्य सेवाएँ प्रदान करने के साथ—साथ नगरीय विकास तथा नियोजन का आवश्यक अंग बन गया है। विलियम ए0 रॉब्सन ने उचित ही कहा है, ''आज स्थानीय प्राधिकरणों को काम करने का पहले से कहीं अधिक सुअवसर उपलब्ध हैं। यदि केन्द्रीय शासन की शक्तियाँ बढ़ रही हैं तो स्थानीय निकायों के कार्यों में निरन्तर वृद्धि हो रही हैं।''

74 वाँ संविधान संशोधन विधेयक :— 74वें संविधान संशोधन विधेयक को 20 अप्रैल को 1993 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिली। इस एक्ट द्वारा संविधान में एक नया भाग (IXA) शामिल किया गया जिसमें कुल 16 अनुच्छेद है और एक नयी 12 अनुसूची जोड़कर नगरीय क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा दिया गया। इसमें तीन प्रकार के नगरीय निकाय के गठन की बात की गयी। इस भाग में नगर निगम की संरचना, गठन, सीटों के आरक्षण, चुनाव शक्तियों, और कार्य वित्त इत्यादि सभी विषयों पर प्रावधान किए गए हैं। इसमें यह व्यवस्था दी गयी है कि 74वॉ संशोधन विधेयक अनुसूचित क्षेत्र और जनजाति क्षेत्र में लागू नहीं होगा।

नगर प्रशासन की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

1. उसका रूप संवैधानिक होता है अर्थात् अधिनियम द्वारा उसकी रचना की जाती है।
2. उसे अपने क्षेत्राधिकार में रहने वालों पर कर लगाकर वित्त एकत्र करने का अधिकार होता है।
3. नगर प्रशासन को केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्त रहकर काम करने का अधिकार होता है।
4. उनका स्वरूप एकोद्देशीय न होकर सामान्य उद्देश्यीय हुआ करता है।
5. नगरीय प्रशासन का कार्यक्षेत्र एक निर्दिष्ट सीमा तक होता है।
6. यह राज्य सरकार के अधीन होती है। इसके ऊपर नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण का अधिकार होता है।

नगरों में स्थानीय प्रशासन :— नगरीय स्थानीय स्वशासन के अन्तर्गत नगर निगम, नगर पालिकाएं, नगर क्षेत्र समितियां, अधिसूचित क्षेत्र समितियां और छावनी बोर्ड (कैन्टोन्मेंट बोर्ड) आदि आते हैं। हालांकि भारत में नगरीय स्थानीय स्वशासन की परम्परा काफी अधिक पुरानी है लेकिन आजादी के बाद इस व्यवस्था में काफी बदलाव किए गए थे। आज नगरों का स्थानीय विकास अपेक्षाकृत कहीं अधिक लोकतांत्रिक है।

4.3 नगर निगम

नगर निगम (कार्पोरेशन) :— भारतीय शहरों में सर्वोच्च स्थानीय सरकार, नगर निगम की होती है। भारत में सबसे पहले सन् 1947 में बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में नगर निगमों की स्थापना की गयी। धीरे—धीरे अन्य नगरों में भी नगर निगमों की स्थापना की जाने लगी। इस प्रकार सन् 1975 तक कुल 34 शहरों में नगर निगम स्थापित हो चुके थे और 1995 तक कुल 73 शहरों में नगर निगमों की स्थापना की जा चुकी थी। दिल्ली में भी एक नगर निगम है लेकिन इसका स्वरूप कुछ अलग है। इसका कारण यह है कि दिल्ली एक पूर्ण राज्य नहीं है और यह राष्ट्रीय राजधानी भी है। यही कारण है कि दिल्ली नगर निगम को स्थापित करने की शक्ति

संघीय संसद के पास है। यही कारण है कि दिल्ली नगर निगम अन्य निगमों की अपेक्षा अधिक स्वायत्ता का प्रयोग करता है। लेकिन एक तथ्य यह भी है कि कुछ राज्यों में तो आज तक नगर निगमों की स्थापना नहीं जा सकी है।

संगठन :– राज्यों में नगर निगमों की स्थापना राज्य विधानमण्डलों द्वारा की जाती है जबकि केन्द्रशासित प्रदेशों में नगर निगमों की स्थापना संसद द्वारा की जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नगर निगमों की स्वायत्तता, उनका अस्तित्व और उनके अधिकार बहुत कुछ राज्य या केन्द्र सरकार पर निर्भर करते हैं। नगर निगम को एक चार्टर के रूप में जनता पर शासन करने का अधिकार होता है। इन नगर निगमों को पर्याप्त स्वायत्तता भी दी जाती है ताकि वे जनता को सुख–सुविधाएं दे सकें और जनता के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वहन कर सके। नगर निगम एक वैधानिक संस्था होती है और इसके लिए अलग से एक अधिनियम पारित किया जाता है। इस अधिनियम में उल्लेख होता है कि निगम की संरचना कैसी होगी, उसका गठन किस प्रकार किया जायेगा, निगम के अधिकारियों व कर्मचारियों के बीच शक्तियों व कर्तव्यों का विभाजन किस प्रकार होगा, नगर निगम की भौगोलिक सीमा क्या होगी और निगम को किस क्षेत्र में कितनी स्वायत्तता दी जायेगी। नगर निगम आमतौर पर उन्हीं शहरों में स्थापित किए जाते हैं जिनका जनसंख्या घनत्व अधिक होता है अर्थात बड़े शहरों में ही नगर निगम स्थापित किये जाते हैं। नगर निगमों की स्थापना का आधार निम्नलिखित में से कोई एक या एकाधिक हो सकते हैं–

- जनसंख्या
- भौगोलिक क्षेत्रफल
- संसाधनों की उपलब्धता
- सुविधाओं की आवश्यकता

नगर निगमों की संरचना सभी शहरों में लगभग एक जैसी ही होती है। नगर निगम में एक महापौर (मेयर), एक परिषद, कुछ समितियां और निगम आयुक्त होते हैं। नगर निगम की सबसे शक्तिशाली संस्था, परिषद् होती है। एक प्रकार से यह एक स्थानीय विधानसभा के रूप में काम करती है क्योंकि अपने क्षेत्र से सम्बन्धित सभी प्रकार के विधान बनाने की शक्ति इसी परिषद् के पास होती है। वैसे इस परिषद् को सरकार और भारतीय संविधान के दिशानिर्देशों के अनुरूप ही काम करना पड़ता है। सम्पूर्ण नगर निगम क्षेत्र को कुछ वार्डों में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक वार्ड से एक उम्मीदवार परिषद् के लिए चुना जाता है। इस निर्वाचित सदस्य को पार्षद कहा जाता है। परिषद् में निर्वाचित सदस्यों के अलावा कुछ सदस्य नामित भी किए जाते हैं, इन्हें एल्डरमैन कहा जाता है। निर्वाचित पार्षद मिल कर अपने महापौर या मेयर का चुनाव करते हैं। मेयर नगर का सबसे सम्मानित और शक्तिशाली व्यक्ति होता है। उसे नगर का प्रथम नागरिक कहा जाता है। नगर निगम की समस्त शक्तियां उसकी परिषद् में समाहित रहती हैं। परिषद् अपनी समितियों के माध्यम से क्रियान्वयन करती है। परिषद् के साथ–साथ निगम की अन्य महत्त्वपूर्ण सभाओं की अध्यक्षता भी महापौर करता है। महापौर के साथ–साथ पार्षद, एक उपमहापौर का भी चुनाव करते हैं। महापौर की अनुपस्थिति में उपमहापौर ही महापौर की समस्त जिम्मेदारियों का निर्वहन करता है। राज्य सरकार और परिषद् तथा राज्य सरकार व नगर आयुक्त के बीच कड़ी का काम भी महापौर ही करता है।

चूंकि नगर निगम के पास बहुत अधिक काम होते हैं और समय की कमी के कारण परिषद् सभी कामों को निपटा नहीं सकती है इसलिए परिषद् कुछ समितियों का गठन करती है जैसे पेयजल समिति और शिक्षा समिति आदि। ये समितियां, संसदीय समितियों की तर्ज पर ही काम करती हैं। नगर का सबसे प्रमुख सरकारी अधिकारी, निगम–आयुक्त होता हैं। यह निगम का सर्वप्रमुख कार्यकारी अधिकारी होता है। नगर आयुक्त भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई0ए0एस0) अधिकारी होता है। वैसे कुछ राज्यों में वरिष्ठ पी0सी0एस0 (राज्य प्रशासनिक सेवा) अधिकारियों को भी नगर आयुक्त के पदों पर नियुक्त किया जाता हैं। नगर आयुक्त की नियुक्ति राज्य सरकारी द्वारा की जाती है लेकिन उसका वेतन निगम के कोष से दिया जाता हैं। अपने कार्यों को सम्पादित करने और विभिन्न कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु के लिए नगर निगम को भारी मात्रा में धन की आवश्यकता होती है। आवश्यक धन जुटाने के लिए नगर निगम को विभिन्न प्रकार के कर (टैक्स) लगाने का अधिकार होता है।

पंचायती राज और स्थानीय स्वशासन के इस दौर में नगर निगम के कार्य और दायित्व काफी अधिक बढ़ गए हैं। अन्य कार्यों के अलावा उसे जनकल्याणकारी कार्य भी करने पड़ते हैं। नगर निगम को मुख्यतः दो प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं अनिवार्य कार्य और ऐच्छित कार्य। अनिवार्य कार्य उन्हें कहा जाता है जिन कार्यों को हर हालत में नगर निगम को करना पड़ता है। जैस– साफ पेजयल की व्यवस्था, घर–दुकान आदि के लिए बिजली की व्यवस्था, सड़कों पर प्रकाश की व्यवस्था (स्ट्रीट लाइट), शहर से सफाई और गंदगी की व्यवस्था, कूड़े–कचरे का उचित रीति से निपटान, बाजारों में सार्वजनिक शौचालयों व मूत्रालयों की व्यवस्था और विभिन्न सार्वजनिक सेवाएं उपलब्ध करवाना। अनिवार्य कार्यों के अलावा नगर निगम कुछ ऐसे कार्य भी करता है जिन्हें करना उसकी जरूरत तो नहीं होता लेकिन राजनीतिक मजबूरी के चलते उसे ये काम करने पड़ते हैं। इन्हें ऐच्छित कार्य कहा जाता है। ये ऐच्छित कार्य, वित्तीय साधन उपलब्ध होने पर ही किए जाते हैं। स्पष्ट है कि स्थानीय स्वशासन का नगर निगम एक महत्त्वपूर्ण उपकरण होता है।

नगर पालिकाएं (म्युनिसिपल बोर्ड) :– नगर पालिकाओं का अधिनियम राज्य सरकार की जिम्मेदारी है इसलिए प्रत्येक राज्य द्वारा एक नगरपालिका अधिनियम पारित किया गया है और प्रत्येक नगरपालिका का कामकाज इसी अधिनियम के अनुरूप चलता है। लगभग प्रत्येक राज्य में नगरपालिकाओं की संरचना लगभग एक जैसी ही है लेकिन इन नगरपालिकाओं के क्षेत्र, जनसंख्या, प्रशासिक सम्बन्धों, वित्तीय शक्तियों और अन्य सामान्य शक्तियों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि स्थानीय स्वशासन का विषय राज्य सूची के अन्तर्गत आता है और प्रत्येक राज्य अपनी राजनैतिक मजबूरियों के चलते अपने–अपने ढंग से नियम बनाता है। नगरपालिकाओं की संरचा काफी कुछ नगर निगमों से मिलती जुलती होती है। प्रत्येक नगरपालिका में एक नगरपालिका अध्यक्ष (चेयरमैन), परिषद् और एक नगरपालिका अधिकारी (अधिशासी अधिकारी) होता है। सम्पूर्ण नगरपालिका क्षेत्र को कुछ वार्डों में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक वार्ड से एक सदस्य चुन कर परिषद् में जाता है। नगरपालिका सदस्य तीन प्रकार के होते हैं निर्वाचित, नामित और एल्डरमैन। समाज के कमजोर वर्ग यथा अनुसूचित जाति, जनजाति और महिला आदि वर्गों से राज्य सरकार कुछ लोगों को नगरपालिका परिषद् में नामित कर देती हैं। नगरपालिका परिषद् के सदस्यों का चुनाव, प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है। सन् 1992 के नगरपालिका अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार प्रत्येक नगरपालिका परिषद् में कुछ स्थान अनुसूचित जाति, जनजाति व महिलाओं के लिए आरक्षित होते हैं। अलग–अलग राज्यों में नगरपालिकाओं का कार्यकाल 3 से 5 साल तक का होता हैं।

नगरपालिकाओं को भंग करने का अधिकार राज्य सरकार को होता हैं। यदि वे अपने कर्तव्य का निर्वहन करने में समर्थ है तो उन्हें समय पूर्व भंग किया जा सकता हैं। लेकिन राज्य सरकार के लिए यह जरूरी होगा की वो नगरपालिका परिषद् को भंग के 6 माह भीतर नये चुनाव करावा ले। परिषद् की सभी बैठकों की अध्यक्षता पालिकाध्यक्ष करता है। साथ ही वह वित्तीय और प्रशासनिक कार्यों पर भी नजर रखता हैं। नगरपालिका के कार्यकारी विभाग का प्रमुख अधिशासी अधिकारी कहलाता हैं। जिसकी नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा होता है किन्तु इसका वेतन तथा अन्य भत्ते परिषद् के कोष से दिये जाते हैं। परिषद् का अधिशासी अधिकारी, समितियों और परिषद् के सचिव के रूप में काम करता हैं।

नगर पालिका के कार्य :– नगर पालिकाएं भी दो प्रकार की कार्य करते है ऐच्छिक और अनिवार्य कार्य। सामान्यतः उन्हें निम्नलिखित कार्य सम्पादित करने होते है–

- साफ पेयजल की व्यवस्था
- गलियों में खड़ंजों का निर्माण
- सड़कों का निर्माण और रख–रखाव
- बिजली की व्यवस्था
- जन्म–मृत्यु का पंजीकरण
- प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था
- मकानों का सूचीकरण

➢ सड़को के किनारे वृक्षारोपण

➢ शहर का सर्वेक्षण कराना

नगर पालिका अधिनियम में प्रत्येक नगर पालिका को कुछ स्त्रोतों से धन कर उगाहने का अधिकार मिल जाता है। नगर पालिकाओं की आय के प्रमुख स्त्रोत है– जैसे– विभिन्न प्रकार से करों (टैक्स) से आय, सम्पत्ति कर, मनोरंजन कर, टोल टैक्स, चुंगी कर, वाहन कर तथा राज्य सरकार से प्राप्त होने वाला अनुदान।

नगर क्षेत्र समितियां :– छोटे–छोटे शहरों में नगर क्षेत्र समितियां गठित की जाती हैं। ये समितियां एक प्रकार से लघु नगर पालिकाएं ही होती है, बस इनका अधिकार क्षेत्र अपेक्षाकृत काफी छोटा होता है। नगर क्षेत्र समितियों के संचालन के लिए राज्य सरकार अलग से एक अधिनियम पारित करती है। इन क्षेत्र समितियों की स्थापना एक अधिसूचना द्वारा की जाती है इसलिए इन्हें अधिसूचित क्षेत्र या नोटीफाइड एरिया कहा जाता हैं।

छावनी बोर्ड (कैन्टोनमेंट बोर्ड) :– भारत के कुछ शहरों में भारतीय सेना की छावनियां हैं। इन छावनी वाले शहरों में आम नागरिकों को सार्वजनिक सुविधाएं उपलब्ध कराने के लिए छावनी बोर्ड की स्थापना की जाती है। छावनी बोर्ड एक स्वायत्त संस्था होती है जिसका नियन्त्रण सेना का कार्यकारी अधिकारी करता है। सैन्य कार्यकारी ही छावनी बोर्ड का प्रमुख होता है और वह सभी स्थानीय विषयों का प्रबन्ध करता है। छावनी बोर्ड का कार्यकाल 3 वर्ष का होता है और प्रत्येक 3 साल बाद छावनी बोर्ड का नए सिरे से गठन होता हैं।

4.4 सारांश

लोकतंत्र की मूलभूत मान्यता यह है कि सर्वोच्च शक्ति जनता में निहित होनी चाहिए इसलिए यह आवश्यक है कि सर्वोच्च शक्ति का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए जिससे अधिकाधिक व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से शासनकार्य में हिस्सा ले सके इस सम्बन्ध में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं द्वारा यह कार्य अच्छे प्रकार से किया जा सकता है। क्योंकि इन संस्थाओं का प्रबन्ध नागरिकों को स्वयं करना होता है। इसी कारण इन संस्थाओं को लोकतंत्र की आधारशिला कहा जाता है जो जनता को लोकतंत्र का पाठ पढ़ाती है। 1993 में पारित 73वें एवं 74वें संवैधानिक संशोधन अधिनियमों द्वारा स्थानीय सरकार को संवैधानिक दर्जा मिल गया है। अतः अब भारत में केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकार के समान स्थानीय सरकार भी संविधान का अंग बन गई है। अब स्थानीय सरकार–पंचायती व नगरीय दोनो–भारत में तीसरे स्तर की सरकार बन गई है।

4.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. **भारतीय प्रशासन** :– डॉ0 अवस्थी एण्ड अवस्थी, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा।
2. **भारतीय प्रशासन** :– प्रो0 मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेशन, दिल्ली।
3. **भारतीय प्रशासन** :– श्री राम माहेश्वरी, ओरिएण्ट लॉन्गमैन नई दिल्ली।
4. **कार्मिक प्रशासन** :– सुरेन्द्र कटारिया, आर0बी0एस0ए0 प्रकाशक, जयपुर।
5. **भारत में लोक प्रशासन** :– बी0एल0 फाड़िया, साहित्य भवन, आगरा।

4.6 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

1. भारत में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का उदाहरण क्या है?

   (a) जिला पंचायत (b) नगर पंचायत

   (c) ग्राम सभा (d) क्षेत्र पंचायत

2. 74वें संशोधन का सम्बन्ध किससे है?

   (a) नगरपालिका निगम से (b) नगरीय प्रशासन व्यवस्था

   (c) नगरीय स्थानीय स्वशासन (d) पंचायती राज अधिनियम

लघु उत्तरीय प्रश्न :–

1. स्थानीय शासन लोकतन्त्र को मजबूत बनाता है, कैसे?
2. स्थानीय स्वशासन क्या है?
3. सन् 1960 और 1970 के दशक में किन प्रदेशों में स्थानीय शासन की स्थापना हुई?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :–

1. शिक्षा एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में ग्रामीण एवं शहरी स्थानीय निकायों के कार्यों का वर्णन करें।
2. स्वतन्त्र भारत में स्थानीय शासन के विकास की व्याख्या कीजिए।

इकाई–05 पंचायती राज

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 पंचायती राज

5.3 पंचायती राज में महिलाओं की भागीदारी

5.4 नये पंचायती राज अधिनियम की प्रमुख विशेषताएं

5.5 सारांश

5.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.7 बोध प्रश्न

5.0 उद्देश्य

- इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् हम पंचायती राज व्यवस्था के बारे में तथा संविधान में उसका उल्लेख कहा मिलता के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- ग्राम पंचायत का बजट पंचायतों के व्यय, पंचायतो बजट निर्माण और लेखा परीक्षा के बारे में जान जायेंगे।
- ग्रामीण विकास से जुड़ी विभिन्न योजनाओं के सम्बन्ध में विस्तार से जान पायेंगे।

5.1 प्रस्तावना

पंचायती राज संस्थानों के माध्यम से स्थानीय लोग न सिर्फ अपने लिए कार्यक्रम बना कर उनका क्रियान्वयन कर सकते हैं अपितु प्रशासन पर नियन्त्रण भी रख सकते हैं। स्वतन्त्रता के बाद भारत में पंचायतों के महत्व को स्वीकार किया गया। भारत के संविधान निर्माता भी पंचायतों के महत्व से परिचित थे। अतः उन्होंने 1950 के संविधान में निर्देश दिया कि ''ग्राम–पंचायतों के निर्माण के लिए राज्य कदम उठाएगा और उन्हें इतनी शक्ति और अधिकार प्रदान करेगा कि वे (ग्राम–पंचायतें) स्वशासन की इकाई के रूप में कार्य कर सकें।'' इस प्रकार पंयाचत का विषय राज्य के नीति–निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत, 40वें अनुच्छेद में समाविष्ट किया गया।

इस प्रकार यह एक आम धारणा विकसित हुई की यदि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण और सामुदायिक विकास कार्यक्रम को सफल बनाना है तो पंचायती राज संस्थानों की स्थापना की जानी चाहिए। इसके लिए एक त्रिस्तरीय संरचना प्रस्तावित की गयी जिसमें गांव स्तर पर ग्राम सभा तथा ग्राम पंचायतें, जिला स्तर पर जिला पंचायत और इन दोनों के बीच में पंचायत समितियां प्रस्तावित थी। पंचायती राज व्यवस्था से ही लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के स्वप्निल स्वप्न को साकार किया जाा सकता है। पंचायती राज संस्थाओं की मात्र स्थापना ही काफी नहीं है अपितु इन्हें पर्याप्त अधिकार भी देने चाहिए ताकि ये अपने पैरों पर खड़ी हो सकें। ये संस्थाएं तभी अपने उद्देश्यों में सफल हो सकती हैं जब नियोजन और विकास के सभी काम इन्हीं के जरिए किए जाएं। पंचायती राज व्यवस्था का उद्देश्य है कि गांव के लोगों को सत्ता और राजनीति में अधिक से अधिक हिस्सेदारी मिल सके।

5.2 पंचायती राज

स्वतन्त्रता के पश्चात् ग्रामीण विकास की दिशा में अनेक प्रयास किये गये हैं। भारत में पंचायती राज ग्रामीण स्थानीय स्वशासन प्रणाली का सूचक हैं। भारत के समस्त राज्यों में इसका गठन राज्य विधानमण्डलों के अधिनियम द्वारा सबसे निचले स्तर पर लोकतन्त्र स्थापित करने के उद्देश्य से किया गया हैं। य़द्यपि इस लोकतांत्रिक सोपान की 1992 में संवैधानिक दर्जा दिया सका।

सामुदायिक विकास कार्यक्रम (1952) और राष्ट्रीय विस्तार सेवा (1953) की कार्य–प्रणाली की जाँच करने तथ इन कार्य–प्रणालियों में सुधार लाने सम्बन्धी उपाय सुझाने के लिए जनवरी 1957 में भारत सरकार ने बलवन्तराय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त है। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट 1957 की जिसमें 'लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण' योजना स्थापित करने की सिफारिश की गयी थी। राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा 1958 में समिति की अनुशंसाओं को स्वीकार किया गया। समिति की अनुशंसा के आधार पर राज्यों ने अपने–अपने ढंग से पंचायत राज संस्थाओं के गठन के लिए अधिनियम पारित किये। ग्रामीण स्थानीय स्वशासन की पंचायत पद्धति को सबसे पहले 2 अक्टूबर 1959 में राजस्थान ने अंगीकार किया। आज देश के विभिन्न राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं की संरचना अलग–अलग है। देश के अधिकतर राज्यों में त्रिस्तरीय पंचायत व्यवस्था है तो कुछ राज्यों में द्विस्तरीय पंचायत प्रणाली भी चल रही है। आज भारत में लगभग 375 जिला परिषदें, 5,500 पंचायत समितियां और 2,20,000 ग्राम पंचायतें काम कर रही हैं। पंचायत राज व्यवस्था की सफलता को सुनिश्चित करने के लिए केन्द्र की सरकार द्वारा समय–समय पर विभिन्न समितियां गठित की जाती रही हैं।

12 दिसम्बर 1977 में अशोक मेहता की अध्यक्षता में पंचायत राज्य संस्थाओं पर एक समिति गठित की गयी, योजना आयोग द्वारा डॉ0 जी.के.बी. राव की अध्यक्षता में 1985 में 'प्रशासनिक व्यवस्था ग्रामीण विकास' और 'गरीबी उन्मूलन–कार्यक्रम के लिए समिति गठित की गयी। 16 जून 1986 में राजीव गाँधी सरकार द्वारा डॉ0 लक्ष्मी मल सिंघवी की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी। इसी प्रकार 1988 में श्री पी0के0 थुंगन की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इन विभिन्न समितियों द्वारा पंचायतों के पुर्नगठन उनके चुनावों तथा उनकी वित्तीय सहायता के सम्बन्ध में अलग–अलग सिफ़ारिशें प्रस्तुत की गयी।

1989 में राजीव गाँधी की सरकार में ग्राम तथा नगरों दोनों में स्थानीय प्रशासन को पुनर्गठित तथा सुदृढ़ किये जाने की दिशा में संसद के समक्ष के दो विधेयक प्रस्तुत किये जो क्रमशः 64वॉ तथा 65वॉ संशोधन विधेयक कहलाया। किन्तु दुर्भाग्यवश यह दोनों विधेयक संसद द्वारा पारित नहीं हो सके।

1991 में कांग्रेस पार्टी पुनः सत्तारूढ़ हुयी और पी0वी0 नरसिंह राव ने नई सरकार बनाई राव सरकार ने पुराने 1989 वाले विधेयक में कुछ परिवर्तन करते हुए संसद में 73वें और 74वें संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया। इस विधेयक को संसद द्वारा अन्तिम स्वीकृति मिलने के साथ ही 1993 में पंचायत राज संस्थाएं संवैधानिक व्यवस्था का हिस्सा बन गयीं। यह संशोधन विधेयक मील का पत्थर साबित हुआ क्योंकि इन संशोधनों ने भारत में पंचायती राज्य व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा दे दिया। भारत की वर्तमान पंचायती राज व्यवस्था बलवंत राय मेहता समिति की सिफारिशों पर आधारित है।

73 वाँ संविधान संशोधन अधिनियम प्रमुख विशेषताएँ :– संसद ने 1992 में 73वें अगर संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया जो 'ग्रामीण स्थानीय शासन' से सम्बन्धित है।

इस अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है–

(1) **पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक स्तर** :– 73वें संविधान अधिनियम के शीर्षक में यह व्यक्त किया गया है कि यह संशोधन पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक स्तर प्रदान करने के लिए लाया गया है। 1991 में 72वें संविधान संशोधन अधिनियम के रूप में किया गया था किन्तु पारित होते–होते यह 73वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1992 और प्रवर्तित होते–होते इसमें एक वर्ष और व्यतीत हो गया। इस प्रकार यह संविधान संशोधन अधिनियम भारत सरकार के राजपत्र में 26 अप्रैल, 1993 को प्रकाशित और प्रवर्तित हुआ।

संविधान में अनुच्छेद 243 जोड़ते हुए देश में पंचायती राज संस्थाओं से सम्बन्धित आवश्यक तत्वों का न केवल समावेश किया गया है अपितु पंचायती राज संस्थाओं की संवैधानिक मान्यता और चुनावों से सम्बन्धित प्रत्याभूति प्रदान की गयी है। अनुच्छेद 40 के माध्यम से नीति निर्देशक तत्वों में पंचायती राज संस्थाओं का उल्लेख किया गया था।

(2) **ग्राम सभा का प्रावधान** :– संविधान संशोधन अधिनियम यह उपलब्ध करता है कि ग्राम स्तर पर ग्रामसभा ऐसी शक्तियों का संव्यवहार और कर्तव्यों का निर्वाह कर सकेगी जो राज्य विधानमण्डल अधिनियम द्वारा विनिश्चित करे।

(3) **त्रिस्तरीय पंचायती राज** :– इसका अभिप्राय यह है कि अब संविधान के प्रावधनों के अनुसार प्रत्येक राज्य को त्रिस्तरीय पंचायती राज की व्यवस्था अपनाये जाने का सामान्य निर्देश किया गया। इन्हीं प्रावधानों में 20 लाख से कम की आबादी वाले राज्यों को पंचायती राज की मध्यवर्ती इकाई के गठन से छूट दी गयी है। 73वें संशोधन अधिनियम के अनुच्छेद 243ब (2) (3) (4) (5) में विस्तृत प्रावधान किया गया है। इन प्रावधानों के माध्यम से यह अधिकार राज्य के विधानमण्डलों को दिया गया है कि वे विधि द्वारा पंचायती राज संस्थाओं के सभी स्तरों–ग्राम पंचायतों, मध्य स्तरीय इकाइयों और जिला इकाइयों के अध्यक्ष/सभापति के सम्बन्ध में तथा लोकसभा के सदस्यों के सम्बन्ध में उनके निर्वाचन क्षेत्र वाली इकाइयों की सदस्यता के लिए आवश्यक उपबन्ध कर सकेंगे।

(4) **चुनावों में आरक्षण – (i) अनुसूचित जाति/जनजाति के लिए आरक्षण** – संविधान संशोधन के माध्यम से यह प्रावधान किया गया है कि प्रत्येक पंचायत क्षेत्र में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए निर्वाचन हेतु स्थानों/सीटों का आरक्षण किया जायेगा। कुल सीटों में से कम से कम एक तिहाई स्थान अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति की महिलाओं के लिए आरक्षित किये जायेंगे। **(ii) महिलाओं के लिए आरक्षण**– इस संविधान संशोधन के माध्यम से प्रत्येक पंचायती राज संस्था के चुनावों में महिलाओं हेतु स्थानों का आरक्षण भी किया गया है। प्रत्येक पंचायती राज संस्था में कम से कम एक–तिहाई स्थानों को महिलाओं के लिए आरक्षित किया जायेगा और इस प्रकार आरक्षित किये गये स्थानों का आवंटन बारी–बारी से किया जाता रहेगा। **(iii) सभापति/अध्यक्ष के लिए आरक्षण**– ग्राम पंचायत व पंचायती राज की अन्य इकाइयों के अध्यक्षों/सभापति के पद भी अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व महिलाओं के लिए, राज्य विधानमण्डल अधिनियम बनाकर प्रक्रिया निर्धारित करते हुए आरक्षित कर सकेंगे। संविधान के अनुच्छेद 334 में अनुसूचित जाति व जनजाति के लिए किये गये आरक्षण के समाप्त होने पर स्वत; निरस्त हो जायेग। **(iv) पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण**– राज्य विधानमण्डल, समस्त पंचायती राज संस्थाओं में पिछड़े वर्गों के लिए भी आरक्षण का प्रावधान, अधिनियम बनाकर कर सकेंगे।

(5) **कार्यकाल से सम्बन्धित प्रावधान** – पंचायती राज इकाई का कार्यकाल, यदि वह, राज्य में तत्समय प्रवर्तित किसी विधि के अधीन पहले भंग नहीं कर दी जाती है, तो 5 वर्ष होगा और इससे अधिक नहीं।

(6) पंचायतें का अपना लेखा–जोखा रखना होगा। इसके लिए राज्य विधानसभा कानून बनायेगी लेखों का लेखा–परीक्षण होगा।

(7) पंचायती राज संस्थाएं आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय और सामाजिक कल्याण कार्यों से सम्बन्धित योजनाएं तैयार करेंगी।

(8) पंचायती राज संस्थाओं को राज्य सरकार द्वारा अनुदान के रूप में वित्तीय सहायता प्राप्त होगी। पंचायतें पथकर, कर और फीस लेकर अपनी आय कर सकती हैं। राज्य वित्त आयोग प्रत्येक 5 वर्ष बाद पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय स्थिति का आकलन करेगा।

5.3 पंचायती राज में महिलाओं की भागीदारी

हमारे देश की जनसंख्या का आधा हिस्सा महिलाएं हैं। अतः देश का समग्र विकास महिलाओं की भागीदारी के बिना संभव नहीं हो सकता। भारत में अनादि काल से जीवन के हर क्षेत्र में महिलाओं ने पुरुषों के साथ मिलकर काम किया भारतीय महिलाएं घर गृहस्थी का पूरा कामकाज निपटने के साथ–साथ राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में खेतों खलिहानों, कल–कारखानों, दफ्तर अस्पतालों में अपना उपयोगी योगदान करती आयी हैं।

कृषि अर्थव्यवस्था में महिलाओं का योगदान उल्लेखनीय है देश के कुछ भागों में महिलाएं खेती का संपूर्ण कार्यभार उठाती हैं वहीं शेष भागों में वह कृषि कार्य पुरुषों के साथ मिलकर करते हैं कृषि देरी हथकरघा तथा अनेक कुटीर उद्योगों के कार्यों में महिलाएं अपना योगदान देती आ रही हैं गांव की कुछ समस्याओं जैसे कि पर्यावरण, रक्षा, सफाई, पाठशालाओं की स्थापना, साक्षरता, पेयजल, स्वास्थ्य केंद्र गांव की सड़कों आदि के बारे में महिलाएं पुरुषों की अपेक्षा अधिक लाभप्रद राय दे सकती हैं।

भारत की 40 करोड़ 63 लाख महिलाएं गांव में बसती हैं किन्तु विकास के लाभों से ग्रामीण महिलाओं का वर्ग

वंचित है उनके पास ना तो जीवन यापन के पर्याप्त साधन है और ना ही सामाजिक प्रतिष्ठास विकास प्रक्रिया में ग्रामीण महिलाओं की समान भागीदारी को अभी क्रियमित किया जाना है ग्रामीण महिलाएं दिनभर 17—16 घंटे काम करती हैं यह समय वे घर के कार्य, खेतों तथा घरेलू उत्पादन के काम में लगाती हैं भारत में कार्यरत महिलाओं की जनसंख्या का मात्र 6: भाग नियमित रोजगार में लगा हुआ है तथा 94: भाग स्वरोजगार में लगी हैं। यह महिलाएं अधिकांशत अशिक्षित वर्ग की ही होती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय संविधान निर्माता ने बड़ी सावधानी पूर्वक सदियों से चले आ रहे स्त्री और पुरुषों के अधिकारों के भेदभाव को सुनिश्चित तौर पर समाप्त करने हेतु मौलिक अधिकारों तथा नीति निदेशक तत्व जैसे विशेष प्रावधान भारतीय संविधान में जोड़ें। मौलिक अधिकार जहां एक ओर स्वतंत्रता एवं समानता के अधिकारों का प्रावधान करके स्त्री तथा पुरुषों को समान स्तर और अधिकार प्रदान करते है। लिंग के आधार पर किए जाने वाले भेदभाव को समाप्त करते है वहीं दूसरी ओर नीति निर्देशक तत्वों के माध्यम से समाज के पीड़ित, पिछड़ा वर्ग, महिलाओं, बालकों के लिए विशेष अधिकार सरकार को सौंप गए हैंस इसके अतिरिक्त स्त्रियों को मताधिकार प्रदान करके तथा निर्वाचित होने का अधिकार देकर शासन कार्यों में भागीदारी निभाने का वैधानिक अधिकार प्रदान किया गया है सइसके साथ ही साथ सरकार समय—समय पर अनेक अधिनियम बनाकर महिलाओं के विरुद्ध होने वाले भेदभाव व अत्याचार को समाप्त करने का प्रयास करती आई है स

सरकार ने महिला विकास के लिए स्वतंत्रता के पश्चात अनेक नीतियां, योजनाएं और कार्यक्रम बनाएं जिसमें की ग्रामीण महिलाओं पर विशेष बल दिया गयास विकास योजनाओं में राष्ट्रीय विकास के लिए शिक्षा स्वास्थ्य, कल्याण आदि पर विशेष बल दिया गया समहिलाओं को विकास की धारा से जोड़ने के लिए, गरीबी दूर करने, आमदनी में वृद्धि, जीवन स्तर में सुधार लाने के लिए अनेक कार्यक्रम चलाए गएस इसमें पहली पंचवर्षीय योजना (1951—1956) में सामुदायिक विकास के व्यापक उद्देश्य के अंतर्गत महिलाओं के लिए विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम तैयार किए गए। सन 1954 में यह अनुभव किया गया कि महिलाओं के सहयोग के बिना कार्य कारगर सिद्ध नहीं हो पा रहे इसलिए पहली बार इन कार्यक्रमों में महिलाओं को शामिल किए जाने की बात की गई। इसके अंतर्गत समन्वित विकास कार्यक्रम, महिला व बाल विकास कार्यक्रम जवाहर रोजगार योजना, समृद्धि योजना प्रशिक्षण कार्यक्रम आदि शामिल थे किंतु इन कार्यक्रमों के बावजूद महिलाओं की स्थिति में कोई क्रांतिकारी सुधार नहीं हो पाया क्योंकि किसी भी सरकार ने योजना बनाने के बाद ना तो उनका वास्तविक मूल्यांकन किया और ना ही यह जानने का प्रयास किया कि वह कार्यक्रम अपने उद्देश्य में कहां तक सफल हो पाए हैं। 1982— 83 में यह महसूस किया गया कि ग्रामीण महिलाएं गरीबी में अपना जीवन व्यतीत कर रही हैं तथा आर्थिक और सामाजिक कारण से साधनों की कमी होती जा रही है गरीब महिलाओं को आय के लिए परिवार में हाथ बताना पड़ता है लेकिन उनमें कौशल और साक्षरता ना होने से उन्हें निम्न स्तर की मजदूरी मिलती है और उसमें भी उनका शोषण होता है।

जहां तक राजनीति में महिलाओं की सहभागिता और भूमिका का संबंध है इस संबंध में अनेकों अध्ययनों के द्वारा यह निष्कर्ष निकाल कर आया कि स्वतंत्रता से पूर्व महिलाओं की भागीदारी स्वतंत्रता संघर्ष, सामाजिक आंदोलन, कृषक आंदोलन एवं ट्रेड यूनियन संघर्ष में व्यापक रूप से रही थी जबकि स्वतंत्रता के बाद के काल में पुरुष की तुलना में उनकी संख्या निरंतर घटती रही है पंचायत स्तर पर भी जहां महिलाओं की सदस्यता की संख्या निश्चित कर दी गई थी उनकी भागीदारी सक्रिय नहीं रही थी। विभिन्न राजनीतिक स्तरों पर स्थानीय राज्य एवं केंद्र में महिलाओं को आरक्षण देने की मांग निरंतर होती रही है गांव में परंपराएं और अनुदारवाद, परिवार की पितृसत्तात्मक प्रकृति, शिक्षा का अभाव तथा सूचना और संचार व्यवस्थाएं उसकी शहरी महिला की तुलना में दूरी व बाह्य जगत के प्रति पर्याप्त परिचय का अभाव आदि ऐसे कारण है जिन्होंने ग्रामीण भारतीय महिलाओं को शक्तिहीन और साधनहीन बनाया है इस कारण पंचायती राज संस्थाओं में उनकी उपस्थिति सुनिश्चित करने के लिए आरक्षण को एकमात्र साधन माना गया। यह भी अनुभव किया गया कि अगर महिलाओं और बच्चों के विकास के लिए महिलाओं के प्रतिनिधित्व को सार्थक बनाना है तो स्थानीय स्तर पर विभिन्न समितियों में महिलाओं को प्रतिनिधित्व भर देना पर्याप्त नहीं है बल्कि अधिक प्रभावशाली तरीका यह होगा कि गांव के सरपंच के रूप में महिला की स्थिति सुदृढरण की जाए। इस प्रकार के पदों पर महिलाओं का रहना आवश्यक है क्योंकि इससे उन्हें जिला परिषद आदि उच्च संस्थानों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व करने का अवसर प्राप्त होगा।

स्वर्गीय राजीव गांधी ने अपने प्रधानमंत्री काल में ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों को अधिक से अधिक सफल बनाने पर जोर दिया। वे पंचायती राज को मात्र राजनीतिक प्रक्रिया नहीं मानते थे बल्कि उनका मत था कि आर्थिक, सामाजिक तथा गरीब, दलित वर्गों के जीवन में पंचायती राज एक सशक्त माध्यम है विशेष रूप से कमजोर वर्ग अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा महिलाओं को इन संस्थानों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिले। उनका यह मानना था कि जब तक गांव में लोकतंत्र की जड़ें मजबूत नहीं होगी तब तक देश में लोकतंत्र मजबूत नहीं होगा गांव में पंचायत को ग्रामीण विकास की जिम्मेदारी सौंप जानी चाहिए ताकि गांव में रहने वाले ग्रामीणवासी अपने विकास कार्य में अपनी भागीदारी करके योगदान कर सके स्वतंत्रता आंदोलन का अभिन्न अंग पंचायती राज भी रहा है इसलिए श्री राजीव गांधी ने पंचायत को सफलता तथा सफलता का पता लगाने की पहल की।

राजीव गांधी के अनुसार— हम एक जबरदस्त क्रांति के समीप है एक ऐसी क्रांति जिसकी परिकल्पना तीन दशक पूर्व पंचायती राज कार्यक्रम लागू करते समय पंडित जवाहरलाल नेहरू ने की थी। यह क्रांति इसलिए सफल नहीं हो पाई क्योंकि इसको संवैधानिक सुरक्षा प्राप्त नहीं थी।

उनकी पहल संसद और राज्य विधानसभाओं की तरह पंचायत के नियमित चुनाव कराने, उन्हें संवैधानिक दर्जा दिलाने पंचायत में अनुसूचित जनजाति, अनुसूचित जाति, महिलाओं को प्रतिनिधि दिलाने आदि कार्य थे।

10 अगस्त 1989 में राजीव गांधी ने 64 व संविधान संशोधन विधेयक लोकसभा में पेश किया जो दुर्भाग्य से राज्यसभा में पारित न हो सका और कानून न बन सका। राजीव गांधी की मृत्यु प्रांत उनकी पार्टी के नेता श्री नरसिंह राव ने उनके सपने को साकार रूप प्रदान करने के लिए अपने प्रधानमंत्री काल में सितंबर 1991 में 72 व संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया समिति की रिपोर्ट के अनुसार लोकसभा में 22 दिसंबर 1992 में यह विधेयक पारित हुआ इसके अगले दिन राज्यसभा ने भी इस विधेयक को मंजूरी दे दी देश की अधिकतर राज्यों की विधानसभाओं की अनुमति के साथ ही राष्ट्रपति के द्वारा 20 अप्रैल 1993 को इसे स्वीकृति मिल गई।

इस अधिनियम का उद्देश्य यह था कि लोगों को चुनाव की प्रक्रिया के माध्यम से सही अर्थों में पंचायत में प्रतिनिधित्व मिले। पंचायत को सक्षम बनाने के लिए राज्यों द्वारा वित्तीय आयोग गठित किया जाए तथा आर्थिक संसाधनों की व्यवस्था सही तरीके से की जाए किंतु इस संशोधन के क्रियान्वित होने के आधे दशक बाद ऐसा प्रतीत हुआ कि ही राजनेताओं की मंशा, आर्थिक संसाधनों की कमी, जन भागीदारी की कमी, गरीबी राजनीतिक दलों के दुष्प्रचार आदि के कारण नई पंचायती राज व्यवस्था अपने उद्देश्यों को आंशिक रूप से ही प्राप्त कर सकी। इस अधिनियम से जो परिवर्तन आए उसमें भी कई प्रकार की खामियां देखी जा सकती थी पंचायत के चुनाव लगभग 20 वर्षों तक राज्य सरकारों द्वारा नहीं करवाए गए क्योंकि पुराने अधिनियम में राज्य सरकारों के लिए ऐसा कोई प्रावधान नहीं किया गया था कि उन्हें समय पर चुनाव करवाने ही होंगे। महिलाओं व पिछड़े वर्गों के लिए विशेष योजना लागू नहीं की गई और न ही प्रशासन में उनकी भागीदारी परोक्ष स्तर पर स्वीकार की गई। राज्य सरकारों ने पंचायती राज व्यवस्था लागू करने के बाद किसी भी प्रकार की निगरानी या मॉनिटरिंग की व्यवस्था नहीं की न हीं यह देखने का प्रयास किया गया कि यह व्यवस्थाएं व्यावहारिक तौर पर किस प्रकार कार्य कर रही हैं।

बलवंत राय मेहता अध्ययन दल का यह मत था कि श्पंचायती राज संस्थाओं के पतन का कारण संकल्पना की कमी, राजनीतिक इच्छा का अभाव तथा राष्ट्रीय प्राथमिकता की अवहेलना रही। अनुसंधान, मूल्यांकन प्रतिपुष्ट की निरंतर प्रक्रिया के अभाव तथा इस संबंध में कोई सुधारात्मक उपाय न किए जाने के परिणामस्वरुप यह संस्थाएं एक अंधी गली में भटक कर रह गई। जनकल्याणकारी इन संस्थाओं द्वारा विकास करने के लिए वास्तविक अधिकतर ग्रामीण जन को सौंपने हेतु एवं ग्रामीण समाज के सभी तबकों को विकास में भागीदारी हो। इसके लिए केंद्र सरकार ने 73वां संविधान संशोधन पारित किया इस संशोधन का स्वागत इसलिए किया गया क्योंकि इस विधेयक ने राष्ट्र का ध्यान राजनीतिक ढांचे ग्राम भारत की प्रक्रियाओं तथा ग्राम समाज के संवेदनशील वर्गों के महत्व की ओर आकर्षित किया था। महिलाएं इन संवेदनशील वर्गों में से एक है। इस कारण स्थानीय शासन प्रक्रिया में उनकी भागीदारी और योगदान की महत्वपूर्ण भूमिका मानी गई।

5.4 नये पंचायती राज अधिनियम की प्रमुख विशेषताएं

नये पंचायती राज अधिनियम की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :–

- बीस लाख से अधिक आबादी वाले राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं के त्रिस्तरीय (अर्थात ग्राम स्तर खंड स्तर, जिला स्तर) स्वरूप का प्रावधान किया गया है जबकि 20 लाख से कम आबादी वाले राज्यों में पंचायती राज संस्थाओं के केवल दो स्तरों ग्राम पंचायत और जिला परिषद का प्रावधान रखा गया है
- पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव 5 वर्ष के अंदर अनिवार्य रूप से करने की व्यवस्था की गई है यदि कोई पंचायत भंग कर दी जाती है तो उसके 6 माह के भीतर चुनाव करवाना आवश्यक है।
- पंचायत के चुनाव के लिए मतदाता सूचियां तैयार करने व चुनाव के संचालन के लिए एक स्वतंत्र निर्वाचन आयोग की व्यवस्था की गई है।
- अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए जनसंख्या के हिसाब से पंचायत में आरक्षण की व्यवस्था की गई है जबकि कुल एक तिहाई स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित किए गए हैं।
- पंचायत के प्रशासनिक अधिकारों तथा वित्तीय साधनों का निर्धारण राज्य सरकारों द्वारा उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई है।
- राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि पंचायत को कर वसूलने की अनुमति दें अथवा राजस्व का कुल भाग पंचायत को उपलब्ध कराने के संबंध में स्वयं निर्णय लें।
- राज्य सरकारों द्वारा प्रत्येक 5 वर्ष के अंतराल पर वित्त आयोग गठित करने का प्रावधान किया गया है ताकि राज्य की वित्तीय स्थिति बदली हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखकर आयोग अपनी सिफारिशें राज्य सरकारों को दे।
- पंचायत को अधिक सशक्त बनाने के उद्देश्य से यह व्यवस्था की गई है कि राज्य विधान मंडल चाहे तो उन्हें अन्य आवश्यक अधिकार यथा आर्थिक विकास, सामाजिक कल्याण सामाजिक न्याय आदि से संबंधित कार्यक्रम तैयार करने की छूट दे सकते हैं।

5.5 सारांश

लोकतंत्र की मूलभूत मान्यता यह है कि सर्वोच्च शक्ति जनता में निहित होनी चाहिए इसलिए यह आवश्यक है कि सर्वोच्च शक्ति का अधिक से अधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए जिससे अधिकाधिक व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से शासनकार्य में हिस्सा ले सके इस सम्बन्ध में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं द्वारा यह कार्य अच्छे प्रकार से किया जा सकता है। क्योंकि इन संस्थाओं का प्रबन्ध नागरिकों को स्वयं करना होता है। इसी कारण इन संस्थाओं को लोकतंत्र की आधारशिला कहा जाता है जो जनता को लोकतंत्र का पाठ पढ़ाती है। 1993 में पारित 73वें एवं 74वें संवैधानिक संशोधन अधिनियमों द्वारा स्थानीय सरकार को संवैधानिक दर्जा मिल गया है। अतः अब भारत में केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकार के समान स्थानीय सरकार भी संविधान का अंग बन गयी है।

5.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. **भारतीय प्रशासन** :– डॉ0 अवस्थी एण्ड अवस्थी, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा।
2. **भारतीय प्रशासन** :– प्रो0 मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेशन, दिल्ली।
3. **भारतीय प्रशासन** :– श्री राम माहेश्वरी, ओरिएण्ट लॉन्गमैन नई दिल्ली।
4. **कार्मिक प्रशासन** :– सुरेन्द्र कटारिया, आर0बी0एस0ए0 प्रकाशक, जयपुर।
5. **भारत में लोक प्रशासन** :– बी0एल0 फाड़िया, साहित्य भवन, आगरा।

5.7 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

3. पंचायत समिति का गठन होता है।

   (a) ग्राम स्तर पर (b) प्रखंड स्तर पर

   (c) अनुमंडल स्तर पर (d) जिला स्तर पर

4. भारत में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का उदाहरण क्या है?

   (a) जिला पंचायत (b) नगर पंचायत

   (c) ग्राम सभा (d) क्षेत्र पंचायत

लघुउत्तरीय प्रश्न :–

1. स्थानीय शासन लोकतन्त्र को मजबूत बनाता है, कैसे?
2. पंचायती राज के कार्य क्या हैं ?
3. स्थानीय स्वशासन क्या है?
4. स्वतन्त्र भारत में स्थानीय शासन के विकास की व्याख्या कीजिए।

इकाई–06 सामाजिक सांस्कृतिक कारक और प्रशासन

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 सांस्कृतिक कारक और प्रशासनिक सम्बन्ध

6.3 सामाजिक कारक और प्रशासनिक सम्बन्ध

6.4 सारांश

6.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.6 बोध प्रश्न

6.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन से हम यह जानेंगे की किसी भी समाज की संस्कृति और प्रशासन का आपस में क्या सम्बन्ध है।
- किसी भी समाज की संस्कृति वहां की प्रशासनिक प्रक्रिया पर किस प्रकार निर्मित करती है और उसे किस रूप में प्रभावित करती है।
- किसी भी समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक कारक उसी प्रशासकीय संस्कृति के निर्माण में किस प्रकार की भूमिका निभाता है।

6.1 प्रस्तावना

मनुष्य तथा उसके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य संस्थान वातावरण की देन हैं। किसी सामाजिक व्यवस्था में, वातारण या पर्यावरण का अर्थ होते है– संस्थान, इतिहास, विधि, आचारशास्त्र, दर्शन, धर्म, शिक्षा, परम्परा, विश्वास, मूल प्रतीक, पौराणिक गाथायें आदि जिनको भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति का नाम दिया जाता है। लोक–प्रशासन सहित सभी संस्थानों पर समाज के पर्यावरण और संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। चूंकि लोक–प्रशासन एक उप व्यवस्था है, इसकी सामाजिक व्यवस्था के साथ परस्पर क्रिया होती है, सामाजिक व्यवस्था इसके आकार को ढालती है। यह सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करती है। जैसी कि बी0पी0 सिंह कहते हैं, ''किसी भी समय प्रशासन पर सांस्कृतिक वातावरण का अचूक प्रभाव होता है।'' एफ0डब्लू0 रिग्स टिप्पणी करते हैं कि ''किसी भी प्रशासनिक नमूने का महत्त्व उसकी स्थिति के अन्तर्गत होता है।''

बी0 गाई पीटर्ज का मत है कि ''किसी भी देश की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्थायें सरकार के कार्यों और विशेषतया लोक–प्रशासन पर सीमा रेखायें निर्धारित करती हैं, राजनीतिक सांस्कृतिक, सीमायें निर्धारित करने में बराबर का महत्त्व रखती हैं। यद्यपि यह सीमायें इतनी दिखायी नहीं देती जितनी कि आर्थिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित सीमायें हैं। यह निश्चित करते कि सरकार में क्या अच्छा है और क्या बुरा। संस्कृति सरकार को कुछ कार्य करने का लगभग आदेश दे सकती है और कुछ अन्य करना वर्जित कर सकती है।'' अब यह सर्वव्यापी माना जाने लगा है कि सी भी समाज में राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक, सांस्कृतिक घटनाओं की उसी प्रकार प्रशासनिक व्यवस्था के परस्पर क्रिया होती हैं। जैसे सभी सामाजिक व्यवस्थायें (जिसमें प्रशासनिक व्यवस्थायें भी सम्मिलित हैं।) अपने पर्यावरण के साथ परस्पर क्रिया करती हैं तथा उनको प्रभावित करती है और उनसे प्रभावित होती हैं।

6.2 सांस्कृतिक कारक और प्रशासनिक सम्बन्ध

लोक–प्रशासन में 1947 में जॉन एम0 गौस ने लोक–नौकरशाही और इसके पर्यावरण की अनिवार्य परस्पर निर्भरता का अध्ययन करने के लिए पर्यावरण की धारणा को लागू करने की आवश्यकता पर बल दिया।

उसी वर्ष राबर्ट डहल ने अंतः सांस्कृतिक अध्ययनों की बात कही और प्रशासनिक ढाँचों और व्यवहार पर पर्यावरण के प्रभाव पर बल दिया। उन्होंने कहा कि लोक–प्रशासन राष्ट्रीय मनोविज्ञान तथा राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण, जिसमें यह विकसित होता है के प्रभाव से बच नहीं सकता। उन्होंने तथाकथित लोक–प्रशासन के सिद्धान्तों और उनकी सामान्य स्थिति के बीच सम्बन्धों की लगभग सम्पूर्ण अनभिज्ञता की आलोचना की।

1961 तक फ्रेड डब्लू0 रिग्स ने अपनी एक रचना ''दि इकोलोजी ऑफ ऐडमिनिस्ट्रेशन'' में लोक–प्रशासन तथा पर्यावरण, जिसमें यह विकसित होता है, के बीच परस्पर क्रिया को तुलनात्मक सन्दर्भ में खोजा था।

रमेश के0 अरोड़ा तथा अगस्टो फेरेरोस ने इस प्रकार बताया है, ''तुलनात्मक लोक–प्रशासन में पर्यावरणात्मक दृष्टिकोण की मूल धारणा यह है कि लोक–नौकरशाही को समाज के कई बुनियादी संस्थानों में से एक समझा जाना चाहिए।'' अतः इसके ढाँचे और कार्यों को समझने के लिए इसका अध्ययन दूसरे संस्थानों के साथ पारस्परिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में ही किया जाना चाहिए। एक व्यवस्थित भाषा में एक सामाजिक संस्थान के रूप में नौकरशाही समाज में आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक–सांस्कृतिक उपव्यवस्थाओं के साथ निरन्तर परस्पर–क्रिया में लगी होती है, अर्थात् यह इनसे प्रभावित होती है और इन पर पनपती है। यह इन व्यवस्थाओं पर परिवर्तनशील प्रभाव भी डालती है और स्वयं एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें उनकी क्रिया के कारण परिवर्तन होता है। अतः यह स्वीकार लिया गया है कि विभिन्न स्थितियों में लोक–प्रशासन के पर्यावरणात्मक आयामों का ज्ञान लोक–प्रशासन के अध्ययन के वैज्ञानिक विकास में सहायता दे सकता हैं।

प्रशासन संस्कृति में बंधा है (Administration is culture Bound)

लोक–प्रशासन संस्कृति में बँधा है क्योंकि इसकी स्थिति या पर्यावरण इसको ढालता है, यह विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों या पर्यावरणों में निजी विशेषताओं का विकास करता है। विभिन्न देशों में लोक–प्रशासन के ढाँचों और कार्यों को देखने से पता चलता है कि औपचारिक संगठनों में बाहरी एकरूपता है, फिर भी उनके अनौपचारिक तथा व्यावहारिक नमूनों में बहुत अधिक विभिन्नताएँ हैं, प्रत्येक का रूप उसके समाज की संस्कृति प्रदान करती हैं।

औपचारिक नियमों और विवेकपूर्ण आचार का अध्ययन विशाल सामाजिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण जिसका कि नौकरशाही एक भाग हैं, के सन्दर्भ में होना चाहिए। उदाहरणतया, भारत में अंग्रेजों ने असैनिक सेवा का विकास सामान्य योग्यता, ईमानदारी, निष्पक्षता तथा राजनीतिक तटस्थता के सिद्धान्तों के आधार पर किया था। भारत की नौकरशाही की भूमिका इन आदर्श नियमों की भाषा में नहीं समझी जा सकती, अपितु इसका अध्ययन तो इनकी सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं तथा दिशाओं के सन्दर्भ में होना चाहिए।

संस्कृति और प्रशासनिक उपव्यवस्था के बीच निकट का सम्बन्ध है। **गाई पीटर्ज** ने ठीक ही कहा है कि ''कई बार नौकरशाहियों का चित्रण ऐसे किया जाता है, जैसे कि वे अपने समाजों को कुचलती चली जाती हैं। किन्तु वे अपने समाज तथा उनके मूल्यों के साथ कई पतले, परन्तु सशक्त बन्धनों से बंधी होती हैं।''

यह अवश्य कहना पड़ेगा कि किसी भी समाज के सांस्कृतिक मूल्य अपरिवर्तनीय नहीं होते। संस्कृति परिवर्तनशील है और संस्कृति तथा प्रशासन में निरन्तर परम्पर क्रिया होती रहती है। यही परम्पर क्रिया लोक–प्रशासन तथा सरकार की भूमिका की पुर्नव्याख्या करती है। पश्चिमी देशों में सरकार को कार्य करने की छूट आज प्राप्त है और जिसको लोक–प्रशासन के द्वारा कार्यन्वित किया जाता है। इनकी दो विश्वयुद्धों, एक बड़ी आर्थिक मन्दी और शीतयुद्ध से पूर्व कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इन घटनाओं ने सरकार की भूमिका के सम्बन्ध में जनता की समझ में बुनियादी परिवर्तन किये हैं।

इसी प्रकार एशिया और अफ्रीका के विकासशील राष्ट्रों में उनका उपनिवेशवादी शासन से मुक्त होना (सिवाय कुछ एक के) सर्वव्यापी निर्धनता और निरक्षरता से अपने समाजों को बाहर निकालने के लिए तीव्र आर्थिक विकास और आधुनिकीकरण उनके लोगों की बढ़ती हुई आकांक्षाएँ तथा निराशाएँ, भौतिक दृढीकरण की विवशतायें आदि ने सामूहिक तौर पर उनकी पारम्परिक सांस्कृतियों तथा उनके प्रशासन को प्रभावित किया है।

संस्कृति और लोक–प्रशासन के बीच परस्पर क्रिया एकपक्षीय अथवा एक दिशोन्मुखी नहीं है, अर्थात् केवल

संस्कृति तथा पर्यावरण ही प्रशासन को प्रभावित करता हो, अपितु यह द्विपक्षीय या द्वि–दिशोन्मुखी है। लोक–प्रशासन भी समाज की संस्कृति और पर्यावरण पर समान रूप से महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है।

भारत में संस्कृति तथा प्रशासन के बीच परस्पर–क्रिया के एक अध्ययन में बी0पी0 सिंह लिखते है, भारत में एक नया प्रशासनिक लोकाचार अधिकाधिक देखने में आ रहा है जो सामान्य इच्छा को प्रतिबिम्बित करने का प्रयास करता है और नई चुनौतियों को मुकाबला करने के लिए वह अपनी संगठनात्मक योग्यता तथा आदान को विकसित कर रहा है। चूँकि लोक–प्रशासन संस्कृति में बँधा है। इसका परिणाम यह है कि एक पर्यावरणात्मक स्थिति का लोक–प्रशासन किसी भिन्न सांस्कृतिक पर्यावरण में प्रतिरोपित नहीं किया जा सकता।

राल्फ ब्रायबंटी :– भी इस निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। उनका कथन है, ''जब संस्थानों को एक पर्यावरण से दूसरे वातावरण में प्रतिरोपित या स्थानान्तरित किया जाता है, तो उनका विकास पूर्वकल्पित मार्गों पर नहीं होता, और हो सकता है कि वे ऐसी आवश्यकताओं को पूरा करें जो उनकी उत्पत्ति के स्थान की आवश्यकताओं से भिन्न हों।

प्रो0 रिग्स :– पश्चिमी धारणाओं को आयात करने का परिणाम यह हुआ कि नौकरशाही के औपचारिक पक्षों को अपना लिया गया है, किन्तु पारम्परिक समाज का पुराना संस्थात्मक आधार चलता रहता है। वह इसकी द्वैतात्मक स्थिति (Dualistic Situation) बताते हैं। किसी भी समाज के लिए रिग्स पॉच कार्यात्मक तत्वों का उल्लेख करते हैं– आर्थिक, सामाजिक, संसूचना–सम्बन्धी प्रतीक–सम्बन्धी तथा राजनीतिक। यही पॉच तत्वों का समूह प्रशासनिक उपव्यवस्था पर भी लागू होता है। संस्कृति और लोक–प्रशासन के बीच परस्पर क्रिया का विश्लेषण करते बी0 गाई पीटर्ज संस्कृति की व्याख्या तीन स्तरों पर करते हैं– सामाजिक राजनीतिक तथा प्रशासनिक। यहॉ केवल तीन सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक तत्वों पर विचार करना पर्याप्त होगा।

प्रशासकीय संस्कृति :– लोक प्रशासन की संस्कृति से अभिप्राय 'वे पारम्परिक तरीके या ढंग है जिनमें प्रशासक सोचते और कार्य करते हैं। **माइकेल क्रोजियर** का तक यह था कि ''कुछ सांस्कृतिक तत्वों जैसे 'व्यक्ति का पृथक्करण, अपौपचारिक क्रियाओं के ऊपर औपचारिक क्रियाओं का प्रभुत्व और सामाजिक स्तरों के पृथक्करण का सत्ता सम्बन्धों पर महत्वपूर्ण प्रभाव होता है।'' **गाई पीटर्ज** इसको सत्ता और प्रबन्ध की समस्या मानते हैं।

नौकरशाही की संस्कृति के आयामों की जाँच करने से नौकरशाही की आकांक्षाओं तथा आदर्शों, इसके साथ ही साथ इसके सदस्यों के भीतर परस्पर–क्रियाओं और इसके और जनता के बीच सम्बन्ध, जिनको जनता अथवा उपभोगताओं के साथ अनुकूलन का नाम दिया जाता है नौकरशाही की संस्कृति का केवल एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। स्वतंत्रता से पूर्व और पश्चात् भारत की सिविल सेवायें दो लड़ियों का प्रतिनिधित्व करती है। उच्च पटल जिसमें उच्च सिविल सेवायें आती है, तथा दूसरी निम्न अधीनस्था सेवाये। सेवाओं के इन दो वर्गों में भागीदारी की भावना जैसी कोई चीज नहीं थी। इन दो वर्गों ने कार्य और जीवन के अपने–अपने तौर–तरीके अपने–अपने सम्बन्ध और वफादारियाँ विकसित की। यह कहा जा सकता है कि उच्च पटल या वर्ग ने 'हाकिम या शासक की संस्कृति विकसित की और निम्न वर्ग ने बाबू की। पंचातयी राज लागू हो जाने के पश्चात् जो प्रशासनिक परिवर्तन हुए उनसे एक नये तत्व अर्थात् निर्वाचित प्रतिनिधियों का समावेश हुआ। अतः जिला स्तर पर वर्तमान प्रशासनिक पर्यावरण में तीन निश्चित लड़ियां है– जिला–प्रशासन के शिखर पर हाकिम संस्कृति ध्वनित है, शेष जिला–प्रशासन में बाबू संस्कृति फैली हुई है और नेता संस्कृति इन दो सरकारी संस्कृतियों पर तथा स्वार्थ सिद्धि के अन्य कई तरीकों को अपनाने के मार्ग की ओर चल रही हैं।

6.3 सामाजिक कारक और प्रशासनिक सम्बन्ध

लोक–प्रशासन के भीतर का मानवीय तत्व अपने समाज की उपज होता है। लोक सेवा में सम्मिलित होने से पूर्व ही वह समाज के मूल्यों, लोकाचार तथा परम्पराओं को अपना लेता है। किसी भी प्रशासन की अनुक्रियाशीलता उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि, मूल्यों और व्यवहारों से अलग करके नहीं देखी जा सकती, यही उसकी निर्णय क्रिया तथा समाज में जिस प्रकार के लोगों से वह अपने आप को जोड़ता है जिस पर जबरदस्त प्रभाव डालते हैं। ऐसे अधिकारी जिनको शेष समाज से कुछ हद तक अलग करके प्रशिक्षण दिया जाता है, वे अपनी ही मूल्य–व्यवस्था बना लेते हैं जो मूल समाज से थोड़ी बहुत भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक पर्यावरण का लोक–प्रशासन पर प्रभाव इस बात पर आधारित होता है कि प्रशासनिक ढॉचे ने जिन विशिष्ट

मूल्यों का विकास किया है, उनकी शक्ति चारो ओर के समाज के मूल्यों की शक्ति की अपेक्षा में कितनी हैं।

सभाओं का स्थान :– विकसित राष्ट्रों में कई ऐच्छिक सभायें (मजदूर संघ, धार्मिक अथवा व्यवसायिक संगठन, कला तथा सांस्कृतिक समूह आदि) बनायी जाती हैं। प्रत्येक का एक खास कार्य या ध्येय–समूह होता है और वे अपने सदस्यों को भर्ती सर्वव्यापी समानता के आधार पर करते हैं। यह सभायें राष्ट्रीय जीवन में, विशेष कर सरकार और अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कम्पनियों या निगम से बहुत बड़े हैं, वे बड़ी संख्या में कर्मचारी भर्ती करते हैं जिनको निगम–नौकरशाही कहा जा सकता है। निगम–नौकरशाही निश्चित किये गये उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सीमित साधनो का प्रबन्ध करने के हेतु उसी प्रकार के उत्तरदायित्वों के अधीनस्थ होती हैं जिनके अधीनस्थ लोक–नौकरशाही व्यापार अथवा निजी प्रशासन में प्रशासन के सिद्धान्त (विवेक, उपयोगितावाद तथा कार्य–कुशलता) सीधे सभाओं के संगठन के प्रतिरूप तथा मंडी से उत्पन्न होते हैं। प्रो0 रिग्स के अनुसार वही सिद्धान्त लोक–प्रशासन पर भी लागू होते हैं। ऐच्छित सभाओं और लोक–प्रशासन के बीच परस्पर–क्रिया का प्रभाव लोक–प्रशासन पर पड़ता है। सभायें अपनी सदस्यों के हितों और मांगों को जोड़ती और व्यवस्थित करती है। किसी विशेष कार्यक्रम पर लोकमत क्या और कैसा हैं, इसकी जानकारी भी प्रशासक इन सभाओं से प्राप्त करते हैं। रिग्स का मत है, ''इन सभाओं के साथ सम्पर्क के बहुत ही महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं। एक ओर, निरंतर दबाव की व्यवस्था प्रशासक को चौकन्ना और प्रत्युत्तरदायी बनाती है।

वर्ग ढाँचा :– वर्गों के रूप में प्रत्येक समाज का स्तरीकरण होता है, जहाँ वर्गों में गतिशीलता की इजाजत होती है और स्वीकार की जाती है, उसको लचीली या खली वर्ग–व्यवस्था कहते हैं। जहाँ इस गतिशीलता की इजाजत नहीं होती और बहुत ही कम होती हैं, इसको बन्द वर्ग–व्यवस्था कहते हैं। भारत की जाति–व्यवस्था बन्द समाज का एक उदाहरण हैं, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका में खुली वर्ग–व्यवस्था है। बन्द वर्ग–व्यवस्था पर जातियाँ, साम्प्रदायिक तथा समूह सम्बन्धी भावनायें प्रशासन के व्यवहार को प्रभावित करती है। पाकिस्तान की नौकरशाही के सम्बन्ध में राल्फ ब्रायबंटी का कथन है कि जाति साम्प्रदायिक और पारिवारिक भावनाओं का हस्तक्षेप भी एक बुनियाद तत्व था।

सामाजिक पर्यावरण में अन्य तत्व, जैसे–रूढ़ियाँ परिवर्तन अथवा सुधार की ओर समाज का रवैया, धर्म, भाषा, परिवार या कबीले जैसे रक्त–सम्बन्धी समूह संघटन के तत्व जैसे संचार और यातायात के साधन आदि भी लोक–प्रशासन को प्रभावित करते हैं। रिग्स ने परिवारों, सम्प्रदायों, सामाजिक वर्गों तथा सभाओं जैसे समूहों आदि सामाजिक ढॉचों का लोक–प्रशासन पर सम्भावित प्रभाव देखा था। इनका लोक सेवाओं की भर्ती समाजीकरण पदोन्नति तथा गतिशीलता पर महत्वपूर्ण प्रभाव है। भाई–भतीजवाद, पक्षपात तथा भ्रष्टाचार केवल नाइजीरिया की ही विशेषता नहीं है। वास्तव में यह अधिकार विकासशील देशों के लोक–प्रशासन के बहुत सामान्य लक्षण हैं।

बी0 गार्ड पीटर्ज :– सामाजिक संस्कृति के चार पक्षों का उल्लेख करते हैं जो प्रशासन की अदाकारी को प्रभावित करते हैं। वे है–नौकरशाही का समाज में बड़े पैमाने के संगठन का साधन स्वीकार करना या न करना नियमों की सर्वव्यापक समानता तथा व्यक्ति हीनता स्वीकार होना या न होना, संस्कृतियों की बार्टर वस्तु के साथ वस्तु का विनियम करना अर्थात् कैश अर्थव्यवस्था का न होना अवस्था, जैसा कि विकासशील देशों में है, तथा प्रशासन के नियमों और पर्यावरण के बीच परस्पर क्रिया।

राजनीतिक कारक तथा लोक–प्रशासन :– राजनीतिक पर्यावरण सामाजिक पर्यावरण से पूर्णतया अलग नहीं होता। यह दोनों मिल कर वह स्थिति या वातावरण बनाते है जिनमें लोक–प्रशासन को यदि अधिक नहीं तो उतना अवश्य प्रभावित करता है जितना कि सामाजिक पर्यावरण।

राजनीतिक संस्कृति की मूल धारण यह है कि किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में ''सामूहिक तौर पर माने जाने वाले आदर्श मनोभावों तथा प्रतिरूप विश्वासों का एक सार भाग होता है जो राजनीतिक व्यवस्था के कार्यों और ढॉचों की ओर निर्देशित होता है और यही राजनीतिक व्यवस्था के भीतर कार्य करने वालों के व्यवहार को परिभाषित और प्रभावित करता हैं। विभिन्न विद्वानों ने लोक–प्रशासन पर राजनीतिक संस्कृति के प्रभाव का विश्लेषण करने के लिए विभिन्न आयामों की व्याख्या की है जिनमें से मुख्य नीचे दिये गये हैं।

1. **वफादारी और आस्था** :– वफादारी और आस्था को पाई राजनीतिक संस्कृति के तीसरे आयाम का नाम देते हैं। पारस्परिक समाजों में तथा और कई विकसित समाजों में भी परिवार से बाहर अन्य लोगों

से बहुत कम तादात्म्यीकरण होता है। परिवार, भाषा, धर्म, जाति अथवा प्रजातीय समूह के प्रति वफादारी राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के प्रति आस्था को कम करती है और राजनीतिक अशांति तथा अस्थायित्व की सम्भावना को जन्म देती है। यदि राष्ट्र के प्रति वचनबद्धता एक निम्न स्तर पर रहती है तो लोक–प्रशासन के लिए इसके बड़े गम्भरी परिणाम हो सकते हैं। ऐसा समाज सामाजिक विसम्मति या विरोध से पीड़ित होगा और ऐसी स्थितियों में राजनीतिक निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है। फलस्वरूप शक्ति व्यवस्था का दायित्व बोध अपने ऊपर की नौकरशाही की ओर निर्देशित होती है। निर्णय करने की शक्ति नौकरशाही के पास आ जाने से इसकी निष्पक्षता पर विपरीत प्रभाव पड़ता हैं।

खण्डित प्रकार की राजनीतिक संस्कृति का लोक–प्रशासन के लिए एक अन्य परिणाम भी होता है। यदि एक अधिकारी जो समूह से सम्बन्ध रखता है, अपने पद का कार्य करते हुए किसी ऐसे ग्राहकों या नागरिकों के साथ लेने–देने करता है जो किसी अन्य धार्मिक, जातीय अथवा भाषा समूह के हों, तो उसके निर्ण की निष्पक्षता को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। निश्चय ही यह प्रशासनिक ढाँचों की प्रभावकारिता को समिति कर देते हैं। इसके विपरीत, जहाँ राष्ट्रीय समन्वय प्राप्त कर लिया गया है और जहाँ अधिकारी तथा जनता एक ही भाषा तथा मूल्यों की व्यवस्था में भागी हैं, उनके बीच समागम आसान हो जाता है। साथ ही उनके बीच विश्वास उत्पन्न होता है, और इससे तनाव दूर होता हैं।

2. **समानता और लोक–प्रशासन** :– पदानुक्रम तथा समानता को लूशियन पाई राजनीतिक संस्कृति का प्रथम आयाम कहते हैं। अधिकतर प्रशासनिक ढाँचों में औपचारिक संगठन के भीतर कार्मिकों और सत्ता की पदानुक्रम या श्रेणीबद्ध संरचना होती है। सत्ता और नियमों की व्यक्तिहीनता के सम्बन्ध में यहाँ सांस्कृतिक मूल्यों का बड़ा महत्व होता है। प्रशासनिक पदों पर भर्ती के क्या साधन है? एक आधुनिक समाज में यह भर्ती समाजवादी सिद्धान्त के आधार पर होती है, अर्थात् योग्यता या व्यक्ति की उपलब्धि के आधार पर, जबकि एक पारस्पारिक समाज में लोक–सेवाओं में भर्ती का आधार आरोपित अथवा ईश्वर–स्तवित होता है जैसे वर्ग, प्रतिष्ठा, जाति, प्रजाति भाषा आदि। बाहरी तौर पर पदानुक्रम के सिद्धान्त और समानता के सिद्धान्त में विरोधाभास नजर आता है। रिग्स के अनुसार, इसका उत्तर यह है कि ''निर्देशक ढॉचे को व्यक्तिहीन कर दिया जाये।'' निर्देशक व्यक्ति के नाम पर नहीं, अपितु संगठन की ओर से दिये जाएं जैसे–राष्ट्रपति अन्ततः जनता। अतः निर्देशक को स्वीकार करने का अभिप्राय निर्देशन देने वाले व्यक्ति की सर्वोच्चता को स्वीकार करना नहीं होता, अपितु उस सामूहिकता की सेवा करने के उत्तरदायित्व को स्वीकार करना है जिसके नाम पर उस व्यक्ति विशेष को कार्य करने या बोलने के लिए अधिकृत किया गया हैं।

3. **राजनीतिक रूपरेखा** :– अधिकतर राज्यों में एक लिखित संविधान या औपचारिक कानून प्रशासनिक तथा राजनीतिक अथवा गैर नौकरशाही अंगों के बीच भेद करता है। राजनीतिक अंग नीति बनाता है और प्रशासनिक अंग निष्पक्ष उपकरण के रूप में कार्य करे उस नीति को लागू करता है। किन्तु बहुत बार यह अन्तर केवल औपचारिकता तक सीमित रह जाता है। राजनीतिक नीति बनाने में पूरी तरह सक्रिय नहीं होते और न ही प्रशासक नीति लागू करने में निष्पक्ष उपकरण की भॉति व्यवहार करते हैं। राजनीति प्रशासन द्विभाजन की भ्रांति को कई एक विद्वानों जैसे–पाल एच0 एपलबी हेराल्ड स्टीन और मोर्सटीन मार्क्स ने स्पष्ट तौर पर दिखाया।

   एक निष्पक्ष उपकरण जैसी नौकरशाही जो राजनीतिक अंग के प्रति उत्तरदायी हो का आदर्श ऐसी राजनीतिक व्यवस्थाओं में प्राप्त होने के निकट आ सकता है जहाँ राजनीतिक संस्कृति में असाम्प्रदायिक तथा विवेकशील होने की प्रवृत्ति हो।

आर्थिक कारक तथा लोक–प्रशासन – आर्थिक पर्यावरण ऐसा तत्व है जो लोक–प्रशासन के साथ परस्पर–क्रिया में लगा होता है। आर्थिक पर्यावरण लोक–प्रशासन की आकृति, ढाँचे और कार्यों को प्रभावित करता है। निम्न आर्थिक विकास प्रायः निम्न प्रशासनिक योग्यता के साथ जुड़ा होता है। दूसरी ओर, निम्न आर्थिक विकास प्रायः निम्न प्रशासनिक योग्यता के साथ जुड़ा होता है। दूसरी ओर, निम्न प्रशासनिक योग्यता

आर्थिक जीवन में ध्येयों की प्राप्ति के निम्न स्तर को प्रायः और दृढ़ करता है। यही कारण है कि बहुत से विकासशील देशों में शीघ्र आर्थिक विकास तथा आधुनिकीकरण के लिए प्रशासनिक सुधारों को अनिवार्य समझा गया। यद्यपि विकसित देशों में प्रशासनिक सुधार और आर्थिक विकास समानान्तर नहीं थे, वहाँ आर्थिक विकास पहले हुआ और प्रशासनिक सुधार उसके पश्चात्।

विकासशील देशों में प्रायः यह राज्य ही है जो परिवर्तन के मुख्य कारक की भूमिका निभाता है। अतः आर्थिक विकास कार्यक्रमों को पूरा करने की इसकी क्षमता उत्पादन का महत्वपूर्ण निर्णायक तत्व होती है। विकास के उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए प्रशासनिक व्यवस्था को आम तौर पर नये मूल्य अपनाने पड़ते हैं। विकासशील देशों में लोक–अधिकारियों का कम वेतन तथा सरकारी भ्रष्टाचार भी उनके आर्थिक विकास के निम्न स्तर, तथा तकनीकी और मानवीय साधनों की कमी के साथ जुड़े हुए हैं।

6.4 सारांश

लोक प्रशासन संस्कृति में बंधा है क्योंकि इसकी स्थिति या पर्यावर्णात्मक कारक इसको ढालते हैं इसीलिए विभिन्न देशों में विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों या पर्यावर्णात्मक कारकों के भिन्न–भिन्न होने के कारण उनकी निजी विशेषताओं का विकास भी अलग–अलग रूप में देखने को मिलता है। विभिन्न देशों में लोक प्रशासन के ढांचे और कार्यों को देखने से पता चलता है कि औपचारिक संगठनों में बाहरी एकरूपता है फिर भी उनके अनौपचारिक तथा व्यावहारिक नमूनों में बहुत अधिक विभिन्नताएं पायी जाती हैं यह विभिन्नता प्रत्येक समाज की संस्कृति उसे प्रदान करती है। परिणाम स्वरूप एक पर्यावरणात्मक स्थिति का प्रशासन किसी भिन्न सांस्कृतिक पर्यावरण में प्रतिरोपित नहीं किया जा सकता। अतः कहा जा सकता है कि किसी भी देश में लोक प्रशासन की प्रकृति उसके सामाजिक वातावरण जिसमें वह काम करता है को समझे बिना नहीं जानी जा सकती। किसी भी सामाजिक व्यवस्था की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितयां और कारक उस देश की प्रशासनिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं और उनसे प्रभावित भी होते हैं। प्रशासन शून्य में कार्य नहीं करता अपितु यह जटिल सामाजिक आर्थिक सांस्कृति तथा राजनीतिक घटनाओं के ताने–बाने के केन्द्र में काम करता है और निरन्तर उनके साथ परस्पर क्रिया में लगा होता है।

6.5 कुछ उपयोगी पुस्तके

1. **लोक प्रशासन सिद्धान्त और व्यवहारः**– एम0पी0 शर्मा एवं बी0एल0 सडाना, किताब महल नई दिल्ली।
2. भारतीय प्रशासन डॉ0 अवस्थी एण्ड अवस्थी, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
3. **भारत में लोक प्रशासनः**– बाबू लाल फाड़िया, साहित्य भवन आगरा।

6.6 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्न में से कौन सा विद्वान लोक प्रशासन के पारिस्थितिक अथवा पर्यावर्णात्मक अध्ययन से नहीं जुड़ा है?

   (i) डवाईट वाल्डो (ii) जॉन एम गॉस

   (iii) रॉबर्ट डहल (iv) फ्रैड डब्ल्यू0 रिग्स

2. निम्न में से किसने लोक प्रशासन का पर्यावरण (The Ecology of PublicA dministration) नामक पुस्तक लिखी है।

   (i) जॉन एम गॉस (ii) रॉबर्ट डहल

   (iii) फ्रैड डब्ल्यू0 रिग्स (iv) इनमें से काई नहीं

3. निम्न में से कौन सी विकास प्रशासन की विशेषता है।

   (i) परिवर्तन और परिणामोन्मुखी

   (ii) ग्राहकोन्मुखी

   (iii) वचनबद्धता

   (iv) उपर्युक्त सभी

लघु उत्तरीय प्रश्न :–

1. संस्कृति और प्रशासन में क्या आपसी सम्बन्ध है।
2. सामाजिक कारक और प्रशासन का आपसी सम्बन्ध बताइए।
3. राजनीतिक कारक और प्रशासन में अन्र्तसम्बन्ध बताइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :–

1. सामाजिक कारक प्रशासनिक तत्वों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं? विस्तार से बताइए।
2. सांस्कृतिक कारक तथा प्रशासनिक प्रक्रियाओं के आपसी सम्बन्धों की व्याख्या करिए।
3. किसी देश की राजनीतिक तत्वों का उसके प्रशासन पर क्या प्रभाव पड़ता है? विस्तार से बताइए।

इकाई–07 लोक शिकायतों का निवारण

इकाई की रूपरेखा

7.1 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 लोक शिकायत का अर्थ एवं महत्व

7.2.1 लोक शिकायतों का स्वरुप एवं प्रक्रिया

7.2.2 लोक शिकायतों के प्रकार

7.3 लोक शिकायत की प्रक्रिया

7.3.1 लोक शिकायत पंजीकरण

7.3.2 शिकायतों की जाँच

7.3.3 शिकायतों का समाधान

7.3.4 समाधान की प्रक्रिया

7.4 लोक शिकायत में साझेदारी और जनसहभागिता

7.5 एक सशक्त लोक शिकायत मॉडल का निर्माण

7.6 सारांश

7.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.8 बोध प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप

- लोक शिकायतों का अर्थ एवं महत्व के विषय में जान सकेंगे।
- लोक शिकायत प्रक्रिया को समझ सकेंगे।
- समाज में लोक शिकायतों का प्रभाव जान सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

जनतांत्रिक राज्य में राष्ट्र के सामाजिक एवं आर्थिक विकास के लिए सरकार बहुत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है, जिसका उद्देश्य जन कल्याण करना होता है। जिसके लिए प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर लोक सेवकों के विवेकाधिकार बढ़ गये हैं जिसमें उनके द्वारा शक्तियों के अनावश्यक शक्तियों प्रयोग के एवं अनाचार ने भष्ट्राचार को बढ़ावा दिया है। फलस्वरुप प्रशासन के विरुद्ध नागरिकों की शिकायते उत्पन्न होती हैं। पीड़ित व्यक्ति की शिकायतों का निपटारा करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण संस्थाओं का निर्माण किया गया है, जैसे– ओम्बुड्समैन या लोकपाल, केन्द्र व राज्य स्तर पर सतर्कता आयोग। न्यायिक प्रणाली इस अध्याय के अन्तर्गत हम इन संस्थाओं का अध्ययन करेंगे।

7.2 लोक शिकायत का अर्थ और महत्व

लोक शिकायत का अर्थ और महत्व

समाज में उत्पीड़क व्यक्ति अपनी पीड़ा का निपटारा विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से करता है। लोक शिकायत

का अर्थ होता है जनता द्वारा सरकारी या निजी संगठनों के खिलाफ उनके अन्याय पूर्ण या अधिकार विशेष की शिकायत करना। इसका मुख्य उद्देश्य न्यायालयों की लंबी प्रक्रिया से बचकर नागरिकों को तत्काल और न्यायपूर्ण निर्णय प्राप्त करना होता है। लोक शिकायत का महत्व विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक है। पहले तो, यह न्यायिक प्रक्रिया को सरल और प्रभावी बनाता है, जिससे नागरिकों को अपने हक को प्राप्त करने में मदद मिलती है। दूसरे, लोक शिकायत सार्वजनिक सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार करने का माध्यम बनता है। तीसरे, यह सार्वजनिक संगठनों की सामरिकता और संपादकीय नीतियों को सुधारने की प्रेरणा प्रदान करता है। लोक शिकायत का अन्य एक महत्वपूर्ण पहलू है कि यह नागरिकों को सामाजिक साझेदारी के रूप में सक्रिय भागीदार बनाता है। इसके माध्यम से, लोक शिकायत की प्रक्रियाओं में शामिल नागरिकों को निर्णय लेने में सहायता करने का मौका मिलता है, जो सकारात्मक संवेदनशीलता और सामाजिक उत्थान की दिशा में महत्वपूर्ण है। इस प्रकार, लोक शिकायत महत्वपूर्ण और आवश्यक है जो न्याय सुनिश्चित करने, सार्वजनिक सेवाओं को सुधारने और नागरिक सहभागिता को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

भारत में लोक शिकायत :–

भारत में शिकायतों का निवारण करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण संस्थाओं का निर्माण किया गया है। जैसे– लोकपाल एवं लोकायुक्त, केन्द्र व राज्य स्तर पर सर्तकता आयोग आदि।

लोकपाल एवं लोकायुक्त :–

भारतवर्ष में लोकपाल की स्थापना जनता की शिकायतों को दूर करने एवं उनके असंतोष को कम करने के लिए थी। लोकपाल सरकार पर नियंत्रण नहीं करता है। लोकपाल सरकार के कार्यो के प्रति जनता के भ्रम को दूर करने का प्रयास करता है।

भारत में ओम्बुड्समैन संस्था को लोकपाल के नाम से जाना जाता है। जुलाई 1977 ई0 में लोकपाल विधेयक निर्मित हुआं जिसकी प्रमुख विशेषता प्रधानमंत्री के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच का अधिकार लोकपाल को प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त जाँच करने के लिए लोकपाल को अपनी स्वयं की प्रशासनिक व्यवस्था होगी। लोकपाल विधेयक में सार्वजनिक एवं व्यक्तियों के दुराचार सम्बन्धी जाँच का अधिकार प्राप्त है।

लोकपाल कार्य निष्पादन के लिए प्रतिवर्ष राष्ट्रपति के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत करेंगें। लोकपाल अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत करेंगें। लोकपाल अपने प्रतिवेदन की एक प्रतिनिधि संसद को भी प्रस्तुत करते है।

लोकपाल के दायरे में प्रधानमंत्री भी आता है। इसके अतिरिक्त जाँच हेतु इसकी अपनी प्रशासनिक व्यवस्था होती है। प्रधानमंत्री के अतिरिक्त मंत्रियों, सांसदों, मुख्यमंत्रियों, राज्य के मुख्यमंत्रियों, विधान मण्डल के सदस्यों के विरुद्ध भ्रष्ट्राचार और दुराचरण के मामलों को देखने का लोकपाल को अधिकार प्राप्त है।

लोकपाल की नियुक्ति के लिए राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री, राज्य सभा के सभापति, मुख्य न्यायाधीश विरोधी दल के नेता से परामर्श की व्यवस्था है। लोकपाल का पद न्यायाधीश के समकक्ष होता है। उसका कार्यकाल पाँच वर्ष निर्धारित किया गया है और वह पुनः नियुक्त भी किया जा सकता है। परन्तु समय से पूर्व भी उसे सर्वोच्च न्यायाधीश के समान पद से हटाया जा सकता है। वह आयोग्यता, गंभीर दुराचरण के आधार पर ही पद मुक्त किए जा सकते है।

लोकपाल का वेतन सेवा–शर्तों, आदि में भारत के मुख्य न्यायाधीश के पद को ध्यान में रखा गया है। लोकपाल को कार्यो में सहायता हेतु प्रशासकीय नियंत्रण प्रदान किया गया है। लोकपाल के लिए कुछ विशेषताओं का होना जरूरी है। जैसे–

1. लोकपाल तथा लोकायुक्त की कार्यवाहियाँ औपचारिक होनी चाहिए।
2. इसकी कार्यवाहियाँ न्यायिक हस्तक्षेप से मुक्त होनी चाहिए।
3. इसमें स्वतंत्रता एवं निष्पक्षता होनी चाहिए।
4. भष्ट्राचार, अन्याय के खिलाफ कार्य करना चाहिए।
5. इनकी नियुक्तियों में राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

6. लोकपाल को किसी प्रकार के लाभ के विषय में नहीं सोचना चाहिए। प्रशासनिक सुधार आयोग ने लोकपाल एवं लोकायुक्त संस्था के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें की–

प्रशासनिक सुधार आयोग ने लोपाल एवं लोकायुक्त संस्था के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें की–

1. लोकपाल संस्था को स्वतंत्र एवं निष्पक्ष होना चाहिए।
2. इसमें शिकायतों की जाँच गोपनीय रुप से की जानी चाहिए।
3. नियुक्ति गैर राजनीतिक होनी चाहिए।
4. लोकपाल के पद की पदस्थिति सर्वोच्च न्यायपालिका के न्यायाधीश के समान होना चाहिए।
5. न्यायपालिका द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए।
6. आर्थिक लाभ से दूर रहना चाहिए।
7. नियुक्ति गैर राजनीतिक होनी चाहिए।

केन्द्रीय सर्तकता आयोग –

केन्द्रीय सर्तकता आयोग भारतवर्ष में एक उच्च सरकारी संस्थान है। जो देश के सार्वजनिक प्रशासन में पारदर्शिता, ईमानदारी और जवाबदेही को बढ़ावा देने के लिए जिम्मेदार है इसकी स्थापना 1964 में भ्रष्टाचार निवारण पर बनी संथानम समिति की सिफारिशों के परिणामस्वरुप की गई थी।

भारत में लोकपाल संस्था की काफी आलोचना भी हुई है। केन्द्रीय सतर्कता आयोग सार्वजनिक शिकायतों के आयुक्त, विभागीय शिकायत प्रकोष्ठ कार्य कर रहे है तो कहा जाता है कि लोकपाल संस्था की क्या आवश्यकता है। यदि उपरोक्त संस्थाए ठीक से कार्य नही। कर पा रही है तो लोकपाल संस्था कैसे प्रभावी हो सकती है।

केन्द्रीय सर्तकता आयोग किसी भी प्राधिकारी के नियंत्रण से मुक्त है। यह एक स्वतंत्र निकाय है जो केवल संसद के प्रति उत्तरदायी है। केन्द्रीय सर्तकता आयोग भ्रष्टाचार या कार्यालयी दुरुपयोग से सम्बन्धित शिकायतें सुनता है और इसमें उपयुक्त कार्यवाही की सिफारिश करता है।

प्रधानमंत्री शिकायत पोर्टल –

लोक शिकायत निवारण हेतु वर्तमान में प्रधानमंत्री शिकायत पोर्टल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शिकायत दर्ज करने के लिए सबसे पहले प्रधानमंत्री कार्यालय की अधिकारिक वेबसाइट पर जाकर लॉग इन करना होगा। ऑनलाइन प्रधानमंत्री कार्यालय को कोई भी शिकायत भेज सकता है। प्रधानमंत्री कार्यालय के पास ऐसी बहुत सारी लोक शिकायतें आती है जो विभिन्न मंत्रालयों विभागों व राज्य सरकारों से संबंधित होती हैं। ऐसी शिकायतों को कार्यालय द्वारा सम्बन्धि मंत्रालयों/विभागों या राज्य सरकारों को प्रेषित कर दिया जाता है।

उत्तर प्रदेश में ''जनसुनवाई'' –

उत्तर प्रदेश में लोक शिकायत के लिए एक महत्वपूर्ण प्रयास उत्तर प्रदेश द्वारा विकसित 'जनसुनवाई' का भी है। 'जनसुनवाई' एक समन्वित शिकायत निवारण तंत्र है, जो सुशासन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग करता है। यह प्रणाली आसान और पारदर्शी तरीके से संवाद करने में सहायक है।

7.2.1 लोक शिकायत का स्वरूप एवं प्रक्रिया

- लोक शिकायत एक प्रकार की शिकायत प्रक्रिया है जिसमें नागरिक अपनी समस्याओं और असंतोष को सरकारी या निजी संगठनों के खिलाफ उचित रूप में दर्ज कराते हैं। इस प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य समाज में न्याय को सुनिश्चित करना और नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा करना होता है।
- लोक शिकायत का स्वरूप न्यायिक प्रक्रियाओं के बाहर होता है और इसमें आम जनता की भागीदारी होती है। यह एक सामाजिक न्याय की प्रक्रिया है जिसमें न्यायिक निर्णयों के लिए न्यायिक प्रक्रियाओं की लंबी और विवादास्पद प्रक्रिया को छोड़कर नागरिकों को तत्काल और संवैधानिक निर्णय प्राप्त करने

का माध्यम प्रदान करता है।

- लोक शिकायत का स्वरूप अधिकांशतः सरकारी या सार्वजनिक क्षेत्र में दी जाने वाली सेवाओं और योजनाओं के प्रभावकारी और उचित निष्पादन को निर्देशित करने के लिए होता है। इसमें शिकायतकर्ता की समस्या के समाधान के लिए संबंधित अधिकारियों और विभागों के बीच संपर्क साधित किया जाता है।

- इस प्रकार, लोक शिकायत का स्वरूप नागरिकों को सरकार और सार्वजनिक संस्थानों के साथ उनके समस्याओं को हल करने में सहायता प्रदान करता है और सामाजिक न्याय और न्यायिक उपयोग को बढ़ावा देता है।

विभिन्न देशों ने अपनी शासन प्रणालियों में लोक शिकायत को समर्थन देने के लिए कई सफल मॉडल विकसित किए है। जो नागरिकों को सुनिश्चित रूप से न्याय मिलने में मदद करते हैं। ये मॉडल लोक शिकायत प्रक्रिया को सहज और प्रभावी बनाने में सहायक होते हैं और नागरिकों को उनकी आवाज को सुनिश्चित करने में मदद करते हैं।

7.2.2 लोक शिकायतों के प्रकार :–

1- **सार्वजनिक विभागों में लोक शिकायत**

- सार्वजनिक विभागों में लोक शिकायत वह प्रक्रिया है जिसमें नागरिक सरकारी संगठनों या विभागों के खिलाफ अन्याय या अव्यवस्था की शिकायत करते हैं। यह एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जो सार्वजनिक सेवाओं की गुणवत्ता, प्रबंधन, और न्यायिक निर्णयों में सुधार करने के लिए निर्वाहित होतीहै।

- इस प्रकार की शिकायतें आमतौर पर सरकारी विभागों, जैसे कि शिक्षा, स्वास्थ्य, पुलिस, जल, बिजली, आदि, के साथ जुड़ी होती हैं। नागरिक इन सेवाओं के लिए अपनी आशाएं रखते हैं और जब उन्हें अनुभव होता है कि सेवाएं न केवल संवैधानिक अधिकारों के खिलाफ हैं, बल्कि उनकी गुणवत्ता में भी कमी है, तो वह लोक शिकायत प्रक्रिया का सही उपयोग कर सकते हैं।

- लोक शिकायत के इस प्रकार के पहलुओं में, शिकायतकर्ता आमतौर पर ऑनलाइन या ऑफलाइन माध्यमों का उपयोग करके अपनी शिकायतें दर्ज करता है, जिसे फिर विशेषज्ञ टीम द्वारा जाँचा जाता है। उचित निर्णय के बाद, संबंधित विभाग या अधिकारी द्वारा उचित कदम उठाया जाता है ताकि सार्वजनिक सेवाएं उन्हें योग्य और सही रूप में प्रदान की जा सकें।

- इस प्रकार, सार्वजनिक विभागों में लोक शिकायत का अर्थ है नागरिकों को उनकी अधिकारों की सुरक्षा और सरकारी सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार के लिए एक सुगम माध्यम प्रदान करना।

2- **निजी संगठनों में लोक शिकायत :–**

- निजी संगठनों में लोक शिकायत एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति या समूह निजी संगठनों, जैसे कि कम्पनियों, संस्थानों, और अन्य निजी संगठनों के खिलाफ अन्यायपूर्ण या अनुचित व्यवहार की शिकायत करते हैं। यह प्रक्रिया निजी संगठनों को जनता के साथ सहयोग और जवाब देही बनाए रखने का एक माध्यम प्रदान करती है।

- निजी संगठनों में लोक शिकायत का मतलब है कि यदि किसी नागरिक या कर्मचारी को अपने कार्यस्थल पर किसी भी प्रकार के अन्याय, भ्रष्टाचार, या अनुचित व्यवहार का सामना करना पड़ता है, तो उसे निजी संगठन के नियमों और विधियों के तहत शिकायत करने का अधिकार होता है।

- लोक शिकायत के इस प्रकार की प्रक्रिया में, शिकायतकर्ता सामान्यतः एक शिकायत पत्र द्वारा अपनी शिकायत को व्यक्त करता है, और उसे विशेषज्ञ टीम द्वारा जाँचा जाता है। निजी संगठन

की तरफ से शिकायत पर विचार किया जाता है और उचित कदमों की ओर बढ़ा जाता है, जिससे कर्मचारी या नागरिक को न्यायपूर्ण और सही समाधान मिल सके।

- इस प्रकार, निजी संगठनों में लोक शिकायत का अर्थ है कि सामाजिक न्याय और अच्छे विचारों को प्रोत्साहित करने के लिए एक प्रक्रिया है, जो नागरिकों को अपने अधिकारों की सुरक्षा और निजी संगठनों में विशेषज्ञ या अधिकारियों के खिलाफ शिकायत करने का सांविधिक अधिकार प्रदान करती है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर लोक शिकायत

लोक शिकायत के अंतर्राष्ट्रीय पहलुओं का अध्ययन एक महत्वपूर्ण विषय है जो सार्वजनिक न्याय के क्षेत्र में विशेषज्ञता और समझ को बढ़ाता है। इसमें अंतर्राष्ट्रीय संगठनों, संघों, और संघात्मक संगठनों के द्वारा लोक शिकायत के तंत्र का अध्ययन किया जाता है जिसका विभिन्न देशों और समाजों में क्रियान्वयन किया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, लोक शिकायत के प्रकार और प्रणालियों का अध्ययन करके, विभिन्न देशों के अनुभवों और अद्यतन तंत्रों का अध्ययन किया जाता है। इसमें अंतर्राष्ट्रीय संगठनों जैसे कि संयुक्त राष्ट्र संगठन (यूएन), गैर सरकारी संगठनों, और अन्य संगठनों के द्वारा चलायी गयी पहलों का अध्ययन किया जाता है जो लोक शिकायत प्रणालियों को प्रोत्साहित करते हैं।

इसके अलावा, लोक शिकायत के अंतर्राष्ट्रीय पहलुओं का अध्ययन करने से हमें विभिन्न देशों के शासन और संवैधानिक तंत्रों के बीच अंतर को समझने में मदद मिलती है। यह हमें अधिकांश समस्याओं के लिए संगठनात्मक और नैतिक समाधान प्रदान करने के लिए एक बेहतर मार्गदर्शक बनाता है और साथ ही अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के साथ एकीकरण और सहयोग को भी बढ़ावा देता है।

इस प्रकार, लोक शिकायत के अंतर्राष्ट्रीय पहलुओं का अध्ययन हमें गहरी समझ और विश्वस्तरीय समस्याओं के संबंध में विचार करने की क्षमता प्रदान करता है।

7.3 लोक शिकायत प्रक्रिया

7.3.1 लोक शिकायत पंजीकरण :– शिकायत पंजीकरण के लिए आवश्यक दस्तावेज लोक शिकायत प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है शिकायत पंजीकरण, जिसमें नागरिकों को अपनी शिकायत को सरकारी अथवा निजी संगठनों के खिलाफ दर्ज कराने का मौका मिलता है। शिकायत पंजीकरण के लिए कुछ महत्वपूर्ण दस्तावेजों की आवश्यकता होती है जो शिकायतकर्ता को प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक होते हैं।

1. **शिकायत पत्र :** शिकायतकर्ता को अपनी शिकायत को विवरण में लिखित रूप में प्रस्तुत करना होता है। शिकायत पत्र में शिकायतकर्ता के व्यक्तिगत और संपर्क जानकारी, शिकायत का विवरण, और अन्य संबंधित जानकारी शामिल होती है।
2. **आधिकारिक प्रमाण पत्र :** शिकायतकर्ता को अपनी पहचान के लिए किसी आधिकारिक प्रमाणपत्र की प्रतिलिपि प्रस्तुत करनी होती है, जैसे कि पहचानपत्र, आधारकार्ड, पासपोर्ट, वोटर आईडी कार्ड आदि।
3. **संबंधित दस्तावेज :** शिकायतकर्ता को जरूरत के अनुसार अन्य संबंधित दस्तावेजों की प्रतिलिपि भी प्रस्तुत करनी होती है, जैसे कि शिकायत के संदर्भ में किसी लेख की प्रतिलिपि, खाते की जानकारी, और किसी अन्य संबंधित दस्तावेज।
4. **शिकायत पंजीकरण फॉर्म** : कई संगठनों या प्राधिकरणों के द्वारा शिकायत पंजीकरण के लिए एक विशेष फॉर्म भरना भी आवश्यक होताहै। इस फॉर्म में शिकायतकर्ता की जानकारी, शिकायत का विवरण, और अन्य संबंधित जानकारी दर्ज की जाती है। इन दस्तावेजों की सही प्रस्तुति से, शिकायत प्रक्रिया को सरल और अनुकूल बनाया जा सकता है, और शिकायतकर्ता को उचित न्याय और समाधान प्राप्त करने में सहायता मिल सकती है।
5. **शिकायत का विवरण :** शिकायत प्रस्तुत करने के लिए फॉर्मेट में विस्तृत रूप से शिकायत का विवरण दिया जाता है। यह शामिल करता हैः कब और कहां हुआ, क्या हुआ, और किसे प्रभावित किया गया।

6. **अन्य संबंधित जानकारी :** फॉर्मेट में शिकायत से संबंधित किसी भी अतिरिक्त जानकारी, जैसे कि संबंधित दस्तावेज की प्रतिलिपि, साक्ष्य, और अन्य साक्ष्य जो शिकायत को समर्थन करते हैं, भी शामिल की जाती है।

7. **हस्ताक्षर :** फॉर्मेट में शिकायतकर्ता का हस्ताक्षर होता है, जो शिकायत की सत्यता को पुष्टि करता है। शिकायत पंजीकरण के लिए उपयुक्त फॉर्मेट की सही भरना शिकायत प्रक्रिया को संगठित और सुगम बनाती है और शिकायतकर्ता को उचित न्याय और समाधान प्राप्त करने में मदद करती है।

7.3.2 शिकायत की जाँच :– शिकायत की प्राथमिक जाँच शिकायत की प्राथमिक जाँच एक महत्वपूर्ण चरण है जो शिकायत प्रक्रिया का आधार बनाता है। इस चरण में, शिकायत पर आधारित जानकारी को विशेषज्ञों द्वारा जाँचा जाता है ताकि उचित समाधान की प्रक्रिया को प्रारंभ किया जा सके।

1. **शिकायत की संपूर्णता की जाँच :** प्राथमिक जाँच के दौरान, शिकायतकर्ता द्वारा प्रस्तुत की गई शिकायत की संपूर्णता की जाँच की जाती है। शिकायत के संबंध में दी गई सभी जानकारी की सत्यता और संघटनशीलता की जाँच की जाती है।

2. **आवश्यक दस्तावेजों की प्रामाणिकता की जाँच :** जाँचकर्ता द्वारा शिकायत पंजीकरण के लिए आवश्यक दस्तावेजों की प्रामाणिकता की जाँच की जाती है। यह शिकायत के प्रकार के अनुसार विभिन्न हो सकते हैं, जैसे कि आधिकारिक प्रमाणपत्र, खाते की जानकारी, और अन्य संबंधित दस्तावेज।

3. **प्राथमिक तथ्यों की समीक्षा :** जाँचकर्ता द्वारा शिकायत पर आधारित प्राथमिक तथ्यों की समीक्षा की जाती है। इसमें शिकायत के संबंध में उपलब्ध सभी जानकारी का मूल्यांकन किया जाता है ताकि शिकायत की प्राथमिकता और संघटनशीलता का निर्धारण किया जा सके।

4. **संबंधित विधियों और नियमों की जाँच :** शिकायत पर आधारित संबंधित विधियों और नियमों की जाँच की जाती है ताकि शिकायत के लिए उचित समाधान की प्रक्रिया में उनका पालन किया जा सके। इस रूपरेखा के अंत में, शिकायत की प्राथमिक जाँच एक महत्वपूर्ण चरण होता है जो शिकायत प्रक्रिया को सुगम बनाता है और उचित समाधान की प्रक्रिया को आरंभ करता है।

7.3.3 शिकायत के समाधान की प्रक्रिया :–

❖ **समाधान की प्रक्रिया**

शिकायत की प्रक्रिया का अंतिम चरण है समाधान की प्रक्रिया, जिसमें शिकायत पर आधारित समाधान के विविध चरणों को प्रारंभ किया जाता है। यह चरण शिकायतकर्ता के आपत्ति का समाधान ढूंढने का प्रयास करता है और विसंगतियों को हल करने के लिए निर्धारित किया जाता है।

1. **समाधान की प्रस्तावनाः** प्राथमिक जाँच के बाद, समाधान के प्रस्ताव को शिकायतकर्ता के सामने प्रस्तुत किया जाता है। इसमें शिकायतकर्ता के साथ मिलकर संबंधित समाधान के विकल्पों का चयन किया जाता है।

2. **समाधान के प्रक्रिया की प्रारंभिक चरणों का संचालनः** समाधान की प्रक्रिया के शुरूआती चरणों में, समाधान के लिए अधिकृत व्यक्ति या संगठन द्वारा आवश्यक कदम उठाए जाते हैं।

3. **समाधान की प्रक्रिया के विकल्पों की जाँचः** विभिन्न समाधान के विकल्पों को जाँचा जाता है ताकि सबसे संवेदनशील और उचित समाधान का चयन किया जा सके।

4. **समाधान का प्रस्तावनः** चयनित समाधान का प्रस्तावन शिकायतकर्ता के सामने किया जाता है। इसमें समाधान की प्रक्रिया, समय सीमा, और संबंधित शर्तें शामिल होती हैं।

5. **समाधान की स्वीकृतिः** शिकायतकर्ता द्वारा प्रस्तावित समाधान की स्वीकृति की जाती है और समाधान के लाभों और शर्तों को समझाया जाता है।

6. **समाधान के प्रारंभिक कार्यः** समाधान के अंतिम स्वीकृति के बाद, समाधान के कार्य की प्रारंभिक प्रक्रिया शुरू की जाती है। इसमें समाधान के संबंध में आवश्यक कार्रवाई की जाती है।

7. **प्रावधानिक समाधान की समीक्षाः** समाधान की प्रक्रिया के बाद, उसके प्रावधानिक होने की समीक्षा की जाती है

❖ **शिकायत का अनुसरण करने के लिए सुरक्षा सुनिश्चित करना :–**

शिकायत के अनुसरण के समय सुरक्षा को प्राथमिकता देना अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह सुनिश्चित करता है कि शिकायतकर्ता, साक्षी, संबंधित अधिकारियों और सामाजिक संरचना के सभी सदस्यों की सुरक्षा और सुरक्षितता बनाए रहती है।

1. **गोपनीयता की सुरक्षा** : शिकायतकर्ता और साक्षी की व्यक्तिगत जानकारी को सुरक्षित रखना महत्वपूर्ण है। उनकी गोपनीयता की सुरक्षा के लिए, उनके व्यक्तिगत जानकारी को केवल आवश्यक अधिकारियों और संबंधित लोगों को ही उपलब्ध कराया जाना चाहिए।
2. **साक्षात्कार की सुरक्षा** : साक्षात्कार के दौरान, साक्षी और अन्य लोगों की सुरक्षा की गरिमा को पूरा किया जाना चाहिए। उन्हें सुरक्षित और संरक्षित रखने के लिए उपयुक्त व्यवहार किया जाना चाहिए।
3. **संबंधित अधिकारियों की सुरक्षा** : शिकायत के अनुसरण के दौरान, संबंधित अधिकारियों की सुरक्षा की भी गरिमा होती है। उन्हें किसी भी प्रकार की धमकी या हमले से सुरक्षित रखा जाना चाहिए।
4. **सामाजिक संरचना की सुरक्षा** : शिकायत के अनुसरण के समय, सामाजिक संरचनाओं की सुरक्षा की गरिमा को भी महत्व देना चाहिए। इससे यह सुनिश्चित होता है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी तरह की क्षति नहीं पहुंचा सकता है।

शिकायत के अनुसरण के दौरान सुरक्षा को पूरी तरह से सुनिश्चित किया जाना चाहिए, ताकि शिकायत प्रक्रिया सुरक्षित, विश्वसनीय और न्यायसंगत रहे

7.4 लोक शिकायत में साझेदारी और जनसहभागिता

❖ **सरकारी और गैर–सरकारी संगठनों के बीच साझेदारी**

लोक शिकायत के माध्यम से समस्याओं के समाधान में सरकारी और गैर–सरकारी संगठनों के बीच साझेदारी और जनसहभागिता का महत्वपूर्ण योगदान होता है। यह समस्याओं का समाधान तथा लोगों की सेवा में सुधार करने का एक सामर्थ्यपूर्ण तरीका प्रदान करता है।

1. **सरकारी संगठनों के साथ साझेदारी** : सरकारी संगठनों को लोक शिकायत के माध्यम से लोगों की समस्याओं को समझने और समाधान करने में मदद मिलती है। यह साझेदारी सरकारी नीतियों और कानूनों को संशोधित करने में भी मदद करती है ताकि न्यायसंगतता और पारदर्शिता में सुधार हो।
2. **गैर–सरकारी संगठनों के साथ साझेदारी** : गैर–सरकारी संगठनों का योगदान लोक शिकायत के माध्यम से लोगों की आवाज को सुनने और समस्याओं के समाधान में सरकारी संगठनों के साथ सहयोग करने में महत्वपूर्ण होता है। इन संगठनों के विशेष ज्ञान और संसाधनों से लाभ प्राप्त किया जा सकता है जो लोगों को समस्याओं के समाधान में सहायक होता है।
3. **संगठनात्मक साझेदारी** : साझेदारी के माध्यम से सरकारी और गैर–सरकारी संगठनों के बीच एक संगठनात्मक योजना और कार्रवाई को तैयार किया जा सकता है। इससे समस्याओं का समाधान और सेवा प्रदान करने में सहायता मिलती है।

❖ **नागरिकों को शिकायत में सहायक बनाने के लिए साझेदारी**

नागरिकों को शिकायत में सहायक बनाने के लिए साझेदारी एक महत्वपूर्ण पहलू है जो लोक शिकायत प्रक्रिया को समृद्ध और प्रभावी बनाता है। इसके माध्यम से नागरिकों को अपनी समस्याओं को निवारित करने में सक्षम बनाया जा सकता है और समाधान की प्रक्रिया में उनकी सहभागिता को सुनिश्चित किया जा सकता है।

1. **जागरूकता और शिक्षा** : साझेदारी के माध्यम से नागरिकों को शिकायत प्रक्रिया के बारे में जानकारी प्रदान की जा सकती है। सामान्य जनता को उनके अधिकारों और प्रक्रियाओं के बारे में शिक्षित किया

जा सकता है ताकि वे अपनी समस्याओं को ठीक से पहचानें और उनका समाधान ढूंढें।

2. **संगठनात्मक सहयोग** : साझेदारी के माध्यम से सामुदायिक संगठनों, स्थानीय समुदायों, और गैर–सरकारी संगठनों को शिकायत प्रक्रिया में सहयोग करने का अवसर मिलता है। इससे नागरिकों की आवाज को बढ़ावा मिलता है और समस्याओं का समाधान निकट और सामुदायिक स्तर पर होता है।

3. **तकनीकी सहायता** : नागरिकों को शिकायत प्रक्रिया में सहायता प्रदान करने के लिए तकनीकी संसाधनों का उपयोग किया जा सकता है। आधुनिक तकनीकी साधनों का उपयोग करके, नागरिकों को अपनी शिकायतों को पंजीकृत करने और उनका प्रबंधन करने में सहायता मिल सकती है।

4. **संबंधों की सुविधा** : साझेदारी के माध्यम से, सरकारी और गैर–सरकारी संगठनों के बीच संबंधों को स्थापित किया जा सकता है जो नागरिकों को सहायक और समर्थ बनाता है। इससे समस्याओं के समाधान में सहायता मिलती है और लोक शिकायत प्रक्रिया को अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है।

इन सभी पहलुओं के माध्यम से, साझेदारी की एक सकारात्मक दृष्टि से नागरिकों को शिकायत में सहायक बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया जा सकता है।

❖ जनसहभागिता के माध्यम से लोक शिकायत में सुधार

नागरिकों को लोक शिकायत में जनसहभागिता के लिए प्रेरित करना एक महत्वपूर्ण कदम है जो समाज के सभी वर्गों को शिकायत प्रक्रिया में सक्रिय और सहयोगी बनाता है। यह नागरिकों को अपनी समस्याओं के समाधान में सक्षम और सहायक बनाता है और साथ ही समाज में सकारात्मक परिवर्तन को उत्पन्न करता है।

1. **जागरूकता को बढ़ावा** : नागरिकों को जनसहभागिता में प्रेरित करने का पहला कदम उन्हें उनके अधिकारों और शिकायत प्रक्रिया के बारे में जागरूक करना है। सार्वजनिक जागरूकता कार्यक्रम और शिकायत प्रक्रिया के बारे में जानकारी साझा करने से, लोगों को सहभागिता के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

2. **समस्याओं का सही संदर्भ** : नागरिकों को अपनी समस्याओं को सही संदर्भ में प्रस्तुत करने और उन्हें ठीक से विवेचित करने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। उन्हें शिकायत प्रक्रिया में सहयोग करने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

3. **सक्रिय भागीदारी**: जनसहभागिता को बढ़ावा देने के लिए, नागरिकों को शिकायत प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी का समर्थन करना चाहिए। वे समस्याओं के समाधान में सक्रिय रूप से शामिल होने के लिए प्रेरित किए जा सकते हैं।

4. **समाज में सकारात्मक परिवर्तन**: जनसहभागिता के माध्यम से, नागरिकों को समस्याओं के समाधान में सक्रिय रूप से शामिल होने का एक माध्यम प्राप्त होता है। इससे समाज में सकारात्मक परिवर्तन और सुधार होता है।

5. **सहयोग और उत्साह**: सही मार्गदर्शन और प्रेरणा के साथ, नागरिकों को लोक शिकायत में जनसहभागिता के लिए सक्षम और उत्साही बनाया जा सकता है। इससे उन्हें समस्याओं का समाधान तलाशने में सहायता मिलती है और समाज में सकारात्मक बदलाव की भावना बढ़ती है।

इन सभी पहलुओं के माध्यम से, नागरिकों को लोक शिकायत में जनसहभागिता के लिए प्रेरित करने से, उन्हें समस्याओं के समाधान में सक्षम और सक्रिय भागीदार बनाने में मदद मिलती है।

7.5 एक सशक्त लोक शिकायत मॉडल का निर्माण

एक सशक्त लोक शिकायत मॉडल का निर्माण समृद्धि और सामाजिक न्याय की प्राप्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। इसमें नागरिकों को सशक्त बनाने, उनकी आवाज को सुनिश्चित करने, और समस्याओं का

समाधान करने में उन्हें साथी बनाने का प्रयास होता है। इस मॉडल को बनाए रखने के लिए निम्नलिखित पहलुओं पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है:

1. **नागरिक भक्ति और जागरूकता :** एक सशक्त लोक शिकायत मॉडल का निर्माण नागरिकों को उनके अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सक्षम बनाने पर निर्भर करता है। जागरूकता कार्यक्रमों के माध्यम से नागरिकों को उनके कानूनी अधिकारों की जानकारी देना महत्वपूर्ण है।
2. **शिकायत प्रक्रिया में सुधार :** शिकायत प्रक्रिया को सुधारित करना आवश्यक है ताकि नागरिकों को शिकायतें दर्ज करने और समाधान करने में सरलता हो। इसमें ऑनलाइन पंजीकरण, स्थिति ट्रैकिंग, और तेज निर्णय लेने की सुविधा शामिल होनी चाहिए।
3. **न्यायिक प्रक्रिया का समर्थन :** न्यायिक प्रक्रिया में सुधार करना और न्यायिक निर्णय को तेजी से लागू करना महत्वपूर्ण है। न्यायिक प्रक्रिया में नागरिकों की सहायता के लिए एक सक्रिय न्याय व्यवस्था की आवश्यकता है।
4. **सामाजिक सहभागिता को प्रोत्साहित करना :** एक सशक्त मॉडल में, सामाजिक सहभागिता को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। सामाजिक संगठनों, गैर–सरकारी संगठनों और नागरिकों को मिलकर समस्याओं का समाधान करने में सहायता करना चाहिए।
5. **तकनीकी समर्थन और सुरक्षा :** एक सशक्त लोक शिकायत मॉडल को तकनीकी समर्थन और सुरक्षा के साथ बनाए रखना आवश्यक है। नए तकनीकी उपायों का उपयोग करना और नागरिकों की जानकारी की सुरक्षा सुनिश्चित करना आवश्यक है।
6. **प्रशासनिक एवं कानूनी समर्थन :** एक सशक्त मॉडल को सार्वजनिक प्रशासन और कानूनी समर्थन के साथ बनाए रखना आवश्यक है ताकि न्यायिक प्रक्रिया में सुधार हो सके और नागरिको को सहायता प्राप्त हो सके। सरकारी स्तर पर, विभागों को लोक शिकायत प्रक्रिया को समर्थन देने और इसका संचालन करने के लिए आवश्यक संसाधन और प्रशासनिक समर्थन प्रदान करना चाहिए। समय–समय पर नीतियों और नियमों में सुधार करने की जरूरत होती है ताकि प्रक्रिया में वृद्धि हो सके और नागरिको। को अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण सेवाएं प्रदान की जा सकें।

7.6 सारांश

नागरिकों को लोक शिकायत में जन सहभागिता के लिए प्रेरित करना एक महत्वपूर्ण कदम है जो समाज के सभी वर्गों को शिकायत प्रक्रिया में सक्रिय और सहयोगी बनाता है। यह नागरिकों को अपनी समस्याओं के समाधान में सक्षम और सहायक बनाता है और साथ ही समाज में सकारात्मक परिवर्तन को उत्पन्न करता है।

विभिन्न देशों ने अपनी शासन प्रणालियों में लोक शिकायत को समर्थन देने के लिए कई सफल मॉडल विकसित किए है। जो नागरिकों को सुनिश्चित रूप से न्याय मिलने में मदद करते हैं। ये मॉडल लोक शिकायत प्रक्रिया को सहज और प्रभावी बनाने में सहायक होते हैं और नागरिकों को उनकी आवाज को सुनिश्चित करने में मदद करते हैं।

7.7 बोध प्रश्न :–

1. लोक शिकायत निवारण कानून क्या है। वर्णन करें?
2. लोकपाल का अर्थ एवं वर्तमान में इसके महत्व पर प्रकाश डालिये।

7.8 संदर्भ–ग्रन्थ :–

- लोक शिकायतः सिद्धांत और कार्य, राजेंद्र सिंह राठौड़, 2016
- भारतीय शासन और लोक शिकायत, मनोज शर्मा, 2019
- लोक प्रशासन–अवस्थी एवं माहेश्वरी
- PublicA dministration- Prof. B.L. Fadia, Dr. Kuldeep Fadia

इकाई–08 प्रशासनिक अधिकरण

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 परिचय

8.2 प्रशासनिक अधिकरणों का विकास

8.3 प्रशासनिक अधिकरणों की विशेषताएं एवं प्रकार

8.4 न्यायालय एवं अधिकरणों के बीच अंतर

8.5 प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985

8.5.1 प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना का उद्देश्य एवं संरचना

8.5.2 अधिनियम की प्रयोज्यता

8.5.3 सदस्यों की योग्यता और नियुक्ति

8.5.4 केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण का क्षेत्राधिकार

8.6 प्रशासनिक अधिकरण के लाभ

8.7 प्रशासनिक अधिकरण की कमियॉ

8.8 सारांश

8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.0 उद्‌देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात आप,

- प्रशासनिक अधिकरण का अर्थ एवं इसके विकास को समझ पाएंगे।
- प्रशासनिक अधिकरण की विशेषताओं एवं श्रेणियों को जान पाएंगे।
- न्यायालय एवं अधिकरणों के बीच अंतर स्पष्ट कर पाएंगे।
- केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 के बारे में विस्तार से जान पाएंगे।
- प्रशासनिक अधिकरण के लाभ एवं कमियों को जान पाएंगे।

8.1 परिचय

प्रशासनिक कानून के अंतर्गत न्यायाधिकरण या अधिकरण (Tribunal) शब्द का प्रयोग एक महत्वपूर्ण अर्थ में किया जाता है और यह केवल ऐसे न्यायिक निकायों को संदर्भित करता है, जो सामान्य न्यायिक व्यवस्था के क्षेत्र से बाहर होते हैं। हमारे देश में तकनीकी रूप से न्यायिक शक्तियां न्यायालय में निहित है, जिनका उद्देश्य व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करना एवं न्याय को बढ़ावा देना है। अतः कम जटिलताओं के साथ न्यायपालिका की एक प्रभावी प्रणाली स्थापित करने के लिए न्यायिक शक्तियों को प्रशासनिक अधिकारियों को सौंप दिया जाता है। इस प्रकार प्रशासनिक न्यायाधिकरणों का जन्म होता है जो अर्ध न्यायिक (Quasi-judicial) विशेषताएं रखते हैं।

ब्लैकली तथा **ओटमेन** (**Blachly**A nd **Oatman**) प्रशासनिक अधिकरण को प्रशासकीय न्यायालय कहना पसंद

करते हैं उनकी परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि "ये साधारण न्यायिक प्रणाली के बाहर स्थित ऐसी सत्ता है जो उस समय विधियों की व्याख्या करते हैं और उन्हें लागू करते हैं जब लोक प्रशासन के कार्यों पर औपचारिक मुकदमों या अन्य स्थापित रीतियों द्वारा आक्रमण होता है।"

अन्य देशों की भांति भारत में भी विभिन्न प्रकार के प्रशासकीय अधिकरणों की तीव्र गति से वृद्धि हो रही है यह अधिकरण वास्तव देश के संवैधानिक स्वरूप के स्थायी अंग बन गए हैं। अधिनिर्णय (Adjudication) की प्रणाली के रूप में उन्हें मान्यता प्राप्त हो गयी है, उनकी संख्या भी निरंतर बढ़ रही है।

8.2 प्रशासनिक अधिकरणों का विकास

भारत में स्वतंत्रता से पूर्व ही आयकर अपीलीय न्यायाधिकरण की स्थापना के साथ न्यायाधिकरण की अवधारणा अस्तित्व में आ गई थी। स्वतंत्रता के पश्चात प्रशासनिक विवादों को लचीलेपन और तेजी से समझाने की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। न्यायाधिकरण का मुख्य उद्देश्य लोगों को विशेष और त्वरित न्याय प्रदान करना था।

भारतीय संविधान का मसौदा तैयार करने के बाद, संविधान द्वारा व्यक्तियों के कल्याण के लिए कई अधिकारों की गारंटी दी गई थी। लोगों को त्वरित परीक्षण और विशिष्ट गुणवत्ता का अधिकार है, जो मौजूदा न्यायिक प्रणाली द्वारा मामलों और अपीलों के अधिक बोझ, प्रक्रिया में तकनीकी आदि के कारण वितरित नहीं किया जा सकता है। इसलिए, प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना की आवश्यकता को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता था।

संविधान के 42वें संशोधन ने भाग XIV-A की शुरुआत की जिसमें अनुच्छेद 323-A और 323-B शामिल थे, जो प्रशासनिक मामलों और अन्य मुद्दों से निपटने वाले ट्रिब्यूनल के गठन का प्रावधान करते थे। संविधान के इन प्रावधानों के अनुसार, न्यायाधिकरणों को इस तरह से संगठित और स्थापित किया जाना है कि वे संविधान में दी गई न्यायिक प्रणाली की अखंडता का उल्लंघन न करें जो संविधान की मूल संरचना का निर्माण करती है। अनुच्छेद 323-A और 323-B की शुरुआत अनुच्छेद 226 और 227 के तहत उच्च न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र को छोड़कर, अनुच्छेद 136 के तहत सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को छोड़कर और विशिष्ट न्यायिक प्रणाली के लिए एक प्रभावी वैकल्पिक संस्थागत तंत्र या प्राधिकरण की उत्पत्ति के प्राथमिक उद्देश्य के साथ की गई थी।

उच्च न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र के बहिष्कार के लिए न्यायाधिकरणों की स्थापना का उद्देश्य लंबित मामलों को कम करने और मामलों के बोझ को कम करने के लिए किया गया था। इसलिए, भारत के सर्वोच्च न्यायालय की सर्वोच्चता के तहत दीवानी और आपराधिक अदालत प्रणाली के एक भाग के रूप में न्यायाधिकरणों का आयोजन किया जाता है। कार्यात्मक दृष्टिकोण से एक प्रशासनिक न्यायाधिकरण न तो एक विशेष न्यायिक निकाय है और न ही एक पूर्ण प्रशासनिक निकाय है, बल्कि दोनों के बीच कहीं है। इसलिए एक प्रशासनिक न्यायाधिकरण को 'अर्ध–न्यायिक' निकाय भी कहा जाता है।

8.3 प्रशासनिक अधिकरणों की विशेषताएं एवं प्रकार

प्रशासनिक निर्णय अर्ध–न्यायिक मामलों का समाधान है, जो इस प्रयोजन के लिए स्थापित प्रशासनिक एजेंसियों द्वारा दिया जाता है। दिन–प्रतिदिन के प्रशासन में कई तकनीकी मुद्दे और विवाद उत्पन्न होते हैं। सामान्य न्यायालयों के पास तकनीकी विशेषज्ञता नहीं होती है और अधिक खर्चीला होने के साथ–साथ उसमें प्रशासनिक स्वरूप के मामलों के निपटान में बहुत समय लगता है। यह केवल प्रशासनिक एजेंसियाँ हैं जो प्रशासनिक अत्यावश्यकताओं के मामलों पर जाँच पड़ताल करने में सक्षम हैं।

प्रशासनिक अधिकरणों की कुछ विशेषताएं निम्नलिखित हैं जो उन्हें सामान्य न्यायालयों से काफी भिन्न बनाती हैं:

1. प्रशासनिक ट्रिब्यूनल का वैधानिक मूल (Legal origin) होना चाहिए अर्थात उन्हें किसी भी कानून द्वारा बनाया जाना चाहिए।
2. प्रक्रियात्मक मामलों में, एक प्रशासनिक न्यायाधिकरण के पास गवाहों को बुलाने, शपथ दिलाने और

दस्तावेजों को पेश करने के लिए मजबूर करने, आदि के लिए अदालत की शक्तियां होती हैं।

3. उनमें सामान्य न्यायालयों की कुछ विशेषताएं होनी चाहिए लेकिन सभी नहीं।

4. एक प्रशासनिक न्यायाधिकरण अर्ध–न्यायिक और न्यायिक कार्य करता है और हर परिस्थिति में न्यायिक रूप से कार्य करने के लिए बाध्य होता है।

5. प्रशासनिक न्यायाधिकरण स्वतंत्र हैं और न्यायिक या अर्ध–न्यायिक कार्यों के निर्वहन में किसी भी प्रशासनिक हस्तक्षेप के अधीन नहीं हैं।

6. वे साक्ष्य और प्रक्रिया के सख्त नियमों का पालन नहीं करते हैं।

7. ये अधिकरण प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत का पालन करने के लिए बाध्य हैं।

8. एक निष्पक्ष, खुला और निष्पक्ष कार्य प्रशासनिक अधिकरणों की अनिवार्य आवश्यकता है।

9. प्रशासनिक अधिकरणों के निर्णयों के विरुद्ध उत्प्रेषण और निषेध के विशेषाधिकार रिट उपलब्ध हैं।

प्रशासनिक अधिकरणों के प्रकार/श्रेणियां : भारतीय संविधान में दो प्रकार के प्रशासनिक अधिकरणों का उल्लेख किया गया है:

1. सेवा मामलों के लिए प्रशासनिक अधिकरण
2. अन्य मामलों के लिए अधिकरण

1. सेवा मामलों के लिए प्रशासनिक अधिकरण (अनुच्छेद 323-A)

अनुच्छेद 323-A, केंद्र सरकार और राज्य सरकार के अधीन सरकारी सेवकों की भर्ती और सेवा की शर्तों से संबंधित विवादों और शिकायतों के न्यायनिर्णयन (Adjudication) के लिए संसद द्वारा बनाए गए कानून द्वारा प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना का प्रावधान करता है। इसमें भारत के क्षेत्र के भीतर या भारत सरकार के नियंत्रण में या सरकार के स्वामित्व या नियंत्रित निगम के किसी भी स्थानीय या अन्य प्राधिकरण के कर्मचारी शामिल हैं।

2. अन्य मामलों के लिए न्यायाधिकरण (अनुच्छेद 323-B)

अनुच्छेद **323-B** संसद और राज्य विधानमंडल को अनुच्छेद 323 B के खंड (2) के तहत निर्दिष्ट मामलों के संबंध में किसी भी विवाद या शिकायत के निर्णय के लिए न्यायाधिकरण स्थापित करने का अधिकार देता है। खंड (2) के तहत दिए गए कुछ मामले, किसी भी कर का आरोपण, निर्धारण, संग्रह और प्रवर्तन, विदेशी मुद्रा और निर्यात औद्योगिक और श्रम विवाद, खाद्य पदार्थों का उत्पादन, खरीद, आपूर्ति और वितरण, किराया और इसका विनियमन और नियंत्रण और किरायेदारी के मुद्दे आदि हैं।

8.4 न्यायालय एवं अधिकरण के बीच अंतर

प्रशासनिक अधिकरण एवं न्यायालय के बीच अंतर को निम्नलिखित बिंदुओं से समझ सकते हैं:

1. कानून की अदालत पारंपरिक न्यायिक प्रणाली का एक हिस्सा है जबकि प्रशासनिक न्यायाधिकरण न्यायिक शक्तियों से संपन्न एक एजेंसी है।

2. न्यायालय साक्ष्य के सभी नियमों और नागरिक प्रक्रिया संहिता की प्रक्रिया द्वारा कडाई से बाध्य है। जबकि प्रशासनिक न्यायाधिकरण साक्ष्य अधिनियम और सीपीसी के नियमों से बाध्य नहीं है जब तक कि कानून जो न्यायाधिकरण बनाता है, इस तरह के दायित्व को लागू नहीं करता है।

3. न्यायालय की अध्यक्षता कानून के विशेषज्ञ अधिकारी करते हैं। जबकि न्यायाधिकरण में यह अनिवार्य नहीं है कि सदस्यों को प्रशिक्षित और कानून के विशेषज्ञ होने की आवश्यकता है।

4. एक न्यायालय सभी मामलों पर सामान्य क्षेत्राधिकार के साथ निहित है। वहीं अधिकरण सेवा मामलों से संबंधित है और किसी विशेष मुद्दे को तय करने के लिए सीमित क्षेत्राधिकार के साथ निहित है।

5. अदालतें जांच के कार्यों का पालन नहीं करती हैं, लेकिन सबूतों के आधार पर मामले का फैसला करती हैं। कई न्यायाधिकरण अपने अर्ध–न्यायिक कार्यों के साथ–साथ जांच कार्य भी करते हैं।

6. न्यायालय का निर्णय वस्तुनिष्ठ (objective) प्रकृति का होता है जो प्राथमिक रूप से न्यायालय के समक्ष पेश किए गए साक्ष्यों और सामग्रियों पर आधारित होता है। वहीं निर्णय व्यक्तिपरक (सब्जेक्टिव) है यानी कई बार यह नीति और समीचीनता (expediency) को ध्यान में रखते हुए मामलों को तय कर सकता है।

7. न्यायालय, न्यायिक न्याय के सिद्धांत और नैसर्गिक न्याय के सिद्धांत से बंधा है। प्रशासनिक न्यायाधिकरण के लिए न्यायिक न्याय के सिद्धांतों और मिसालों का पालन करना अनिवार्य नहीं है, लेकिन प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत का पालन किया जाना चाहिए।

8. न्यायालय कानून की वैधता तय कर सकता है। अधिकरण कानून की वैधता तय नहीं कर सकता है।

8.5 प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985

प्रशासनिक न्यायाधिकरण की उत्पत्ति संविधान के अनुच्छेद 323-A से हुई है, जिसके तहत केंद्र सरकार को सार्वजनिक सेवा में नियुक्त व्यक्तियों की भर्ती और सेवा शर्तों से संबंधित विवादों और शिकायतों के निपटारे के लिए संसद द्वारा पारित एक अधिनियम के तहत प्रशासनिक न्यायाधिकरण स्थापित करने का अधिकार है। संविधान के अनुच्छेद 323-A के प्रावधानों के अनुसार, संसद ने वर्ष 1985 में प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम पारित किया। यह अधिनियम केंद्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरण (CAT) और राज्य प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना का प्रावधान करता है। केंद्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरण की स्थापना नवंबर 1985 में हुई थी। न्यायाधिकरण में एक अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और सदस्य होते हैं। न्यायाधिकरण को कानूनी और प्रशासनिक दोनों क्षेत्रों में विशेषज्ञता प्राप्त करने में सक्षम बनाने के लिए सदस्यों को न्यायिक और प्रशासनिक वर्गों से चुना जाता है।

8.5.1 प्रशासनिक अधिकरणों की स्थापना का उद्देश्य एवं संरचना

केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण एक विशेषज्ञ निकाय है जिसमें प्रशासनिक और न्यायिक सदस्य शामिल होते हैं, जो अपने विशेष ज्ञान के आधार पर त्वरित एवं प्रभावी न्याय प्रदान करने में सक्षम होते हैं।

इस अधिनियम को लागू करने का मुख्य उद्देश्य था : 1. अदालतों में लंबित मुकदमों का बोझ कम करना। 2. सेवा संबंधी विवादों के त्वरित निस्तारण की व्यवस्था करना।

इस अधिनियम की **धारा 4** अधिकरण और बेंच की संरचना का वर्णन करती है। प्रत्येक अधिकरण में एक अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, न्यायिक और प्रशासनिक सदस्य शामिल होंगे। प्रत्येक बेंच में कम से कम एक न्यायिक और एक प्रशासनिक सदस्य शामिल होना चाहिए। केंद्रीय प्रशासनिक न्यायाधिकरण की बेंच आमतौर पर नई दिल्ली, इलाहाबाद, कलकत्ता, मद्रास, बॉम्बे और ऐसे अन्य स्थान पर बैठेंगी जो केंद्र सरकार निर्दिष्ट करती है। अध्यक्ष, उपाध्यक्ष या अन्य सदस्यों को एक पीठ से दूसरी पीठ में स्थानांतरित कर सकता है।

8.5.2 अधिनियम की प्रयोज्यता

प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 की धारा 2 के अनुसार, यह अधिनियम निम्नलिखित को छोड़कर सभी केंद्र सरकार के कर्मचारियों पर लागू होता है– 1. तीनों सेनाओं (नौसेना, थल सेना और वायु सेना) या संघ के किसी अन्य सशस्त्र बल के सदस्य ; 2. उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय का कोई अधिकारी या सेवक; 3. संसद के किसी भी सदन के सचिवालय स्टाफ में नियुक्त कोई भी व्यक्ति।

8.5.3 प्रशासनिक अधिकरण के सदस्यों की योग्यता और नियुक्ति

प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 की धारा 6 के अंतर्गत अधिकरण के सदस्यों की योग्यता और नियुक्ति को निर्दिष्ट करने वाले प्रावधानों का उल्लेख किया गया है। प्रशासनिक अधिकरण के **अध्यक्ष** के रूप में नियुक्त होने के लिए, निम्नलिखित योग्यताएं होनी चाहिए–

- वह किसी उच्च न्यायालय का न्यायाधीश है या रहा है, या
- वह दो साल के लिए उपाध्यक्ष के पद पर रहा है, या
- उसने भारत सरकार के सचिव का पद संभाला है, या
- उसने सचिव के वेतनमान वाले किसी अन्य पद पर कार्य किया है।

एक व्यक्ति प्रशासनिक अधिकरण के **उपाध्यक्ष** पद के लिए योग्य है यदि वह–

- उच्च न्यायालय का न्यायाधीश है या रहा है, या
- 2 साल के लिए सरकार के सचिव का पद धारण किया है, या
- केंद्र या राज्य सरकार के अंतर्गत समान वेतनमान वाला कोई अन्य पद धारण किया है, या
- 5 साल के लिए भारत सरकार के एक अतिरिक्त (Additional) सचिव के पद या अतिरिक्त सचिव के वेतनमान वाले किसी अन्य पद पर रहा है।

न्यायिक सदस्य के रूप में नियुक्त होने के लिए, निम्नलिखित योग्यताएं होनी चाहिए–

- उच्च न्यायालय का न्यायाधीश हैं या रहे हैं, या
- भारतीय कानूनी सेवा के सदस्य रहे हैं और कम से कम 3 वर्षों के लिए सेवा के ग्रेड 1 में एक पद पर रहे हैं।

एक व्यक्ति को **प्रशासनिक सदस्य** के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए–

- उसने कम से कम 2 वर्षों के लिए भारत सरकार के अतिरिक्त सचिव या किसी अन्य समकक्ष पद का पद धारण किया हो, या
- भारत सरकार के संयुक्त सचिव या अन्य समकक्ष का पद धारण किया हो, या
- पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव हो।

अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी। न्यायिक सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से की जाएगी। राज्य न्यायाधिकरण के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा संबंधित राज्य के राज्यपाल से परामर्श के बाद की जाएगी।

8.5.4 केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण का क्षेत्राधिकार

केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम की धारा 14 के अनुसार केंद्रीय अधिकरण नियुक्ति के दिन से निम्नलिखित मामलों के संबंध में सभी अधिकार क्षेत्र, शक्तियों और अधिकार का प्रयोग करेगा जो इस अधिनियम से पहले अन्य अदालतों (सर्वोच्च न्यायलय को छोड़कर) के अधिकार क्षेत्र में थे:

1. संघ या अखिल भारतीय सेवा (All India Services) या संघ के तहत सिविल पद या रक्षा सेवाओं के नागरिक कर्मचारियों की किसी भी सिविल सेवा की भर्ती;
2. उपर्युक्त कर्मचारियों के सभी सेवा मामले, और भारत के क्षेत्र के भीतर या भारत सरकार के नियंत्रण में या सरकार के स्वामित्व या नियंत्रण में किसी भी निगम या समाज के किसी भी स्थानीय या अन्य प्राधिकरण के कर्मचारियों के भी सेवा मामले;
3. ऐसे व्यक्तियों के सभी सेवा मामले जिनकी सेवाएं राज्य सरकार या किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकरण या किसी निगम द्वारा केंद्र सरकार के निपटान में रखी गई हैं।

8.6 प्रशासनिक अधिकरण के लाभ

प्रशासनिक न्याय निर्णय (Adjudication) प्रशासन की एक गतिशील व्यवस्था है, जो आधुनिक समाज की विविध और जटिल आवश्यकताओं को अन्य तरीके की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से पूरा करती हैं। प्रशासनिक प्राधिकरण के मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं:

1. लचीलापन (Flexibility)

प्रशासनिक न्याय निर्णय, न्यायिक के साथ ही प्रशासनिक प्राधिकरणों में लचीलापन और अनुकूलनशीलता लाया है। प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की शुरुआत ने भारत की न्यायिक प्रणाली में लचीलेपन और बहुमुखी प्रतिभा को जन्म दिया। उदाहरण के लिए न्यायालयों में रूढ़िवादी और कठोर दृष्टिकोण झलकता है और जो न्याय वे देते हैं, वे तेजी से बदलती हुई सामाजिक दशाओं के अनुरूप नहीं होता है। प्रशासनिक न्यायाधिकरणों में काफी अनौपचारिक और आसान प्रक्रिया होती है।

2. कम खर्चीला (Less Expensuive)

प्रशासनिक न्याय सस्ता और शीघ्र न्याय सुनिश्चित करता है। इसके विपरीत, न्यायालयों में क्रियाविधि लम्बी और पेचीदी है तथा मुकदमा बहुत खर्चीला है। इसमें भारी कोर्ट फीस जमा करनी पड़ती है, वकील खड़ा करना पड़ता है और अन्य प्रासंगिक व्ययों की पूर्ति करनी पड़ती है। अधिकांश मामलों में प्रशासनिक न्याय निर्णय में कोई स्टाम्प फीस नहीं देनी पड़ती है। इसकी कार्यविधि आसान है और सामान्य व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है।

3. यथोचित न्याय (Adequate Justice)

आज के तेजी से बदलते हुए विश्व में प्रशासनिक अधिकरण न केवल प्रशासनिक कार्रवाई के उपयुक्त माध्यम हैं, बल्कि व्यक्तियों को उचित न्याय देने के सबसे अधिक प्रभावी माध्यम भी हैं। वकील जो कानूनों के पहलुओं के बारे में अधिक चिंतित रहते हैं, वे आधुनिक कल्याणकारी समाज की आवश्यकताओं को ठीक ढंग से आँकने की कठिनाई महसूस करते हैं, और व्यक्तियों को उपयुक्त ढंग से उनके अधिकार दिलाने में कठिनाई महसूस करते हैं।

4. न्यायालयों को राहत

प्रशासनिक न्यायनिर्णयन की प्रणाली ने सामान्य अदालतों पर मामलों के बोझ को कम कर दिया है। इन न्यायालयों के पास पहले से ही साधारण प्रकार के दावों का कार्यभार अधिक है।

8.7 प्रशासनिक अधिकरण की कमियाँ

यद्यपि आधुनिक सरकार में प्रशासनिक अधिकरण अनिवार्य और उपयोगी है, फिर भी हमें इसमें व्याप्त उन बुराइयों से आँखें नहीं बंद कर लेनी चाहिए जो लोकतंत्रीय राजनीति के लिए बाधा उत्पन्न करती हैं। इनकी कुछ मुख्य कमियों का उल्लेख नीचे किया गया है:

1. विधि के शासन के विरुद्ध

विधि का शासन प्रत्येक व्यक्ति को कानून के समक्ष समता सुनिश्चित करता है और सरकारी स्वेच्छाचारिता पर सामान्य कानूनों तथा कानूनों की क्रियाविधि की श्रेष्ठता भी सुनिश्चित करता है। यह देखा जा सकता है कि प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना ने कानून के शासन की अवधारणा को खारिज कर दिया है। प्रशासनिक न्यायाधिकरण कहीं न कहीं कुछ मामलों के लिए अलग कानून और प्रक्रिया प्रदान करके कानून के शासन के दायरे को सीमित करते हैं।

2. कानूनी विशेषज्ञता का अभाव

यह आवश्यक नहीं है कि प्रशासनिक अधिकरणों के सदस्य कानूनी पृष्ठभूमि से संबंधित हों। वे विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ हो सकते हैं लेकिन न्यायिक कार्य में अनिवार्य रूप से प्रशिक्षित नहीं हैं। इसलिए, उनके पास आवश्यक कानूनी विशेषज्ञता की कमी हो सकती है जो विवादों को सुलझाने के लिए अनिवार्य आवश्यकता है।

3. निर्दिष्ट प्रक्रिया का अभाव

अधिकांश मामलों में प्रशासनिक प्राधिकरणों की अपनी कोई कार्यविधि नहीं है और कभी–कभी वे नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का भी उल्लंघन करते हैं।

4. भविष्य के निर्णयों के बारे में कोई पूर्व–कथन नहीं

प्रशासनिक अधिकरण बहुधा संक्षिप्त विचारण करते हैं और वे किसी पूर्व दृष्टान्त का अनुसरण नहीं करते हैं। इस प्रकार भविष्य के निर्णयों की दिशा का अनुमान लगाना संभव नहीं होता है।

संक्षेप में, प्रशासनिक प्राधिकरणों में ऐसे प्रशासक और तकनीकी प्रमुख नियुक्त होते हैं, जिनकी कोई कानूनी पृष्ठभूमि नहीं होती है। उनमें से कुछ का न्यायाधीश जैसा स्वतंत्र दृष्टिकोण नहीं हो सकता है। अतः प्रशासनिक न्यायाधिकरण की कई कमियाँ और दोष हैं जिन्हें नकारा नहीं जा सकता है। इन कमियों को दूर करने के लिए कुछ सुझाव दिये गये हैं, जिससे प्रशासनिक न्याय निर्णय निष्पक्ष और निश्चित बन सके। यह सुझाव निम्नलिखित हैं:

i) प्रशासनिक प्राधिकरणों में ऐसे व्यक्ति नियुक्त किए जाएँ जिन्हें कानूनी प्रशिक्षण और अनुभव प्राप्त हो। जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए सदस्यों की नियुक्ति उच्चतम न्यायालय के परामर्श से की जानी चाहिए।

ii) भारत में प्रशासनिक न्याय निर्णय में भिन्न–भिन्न कार्यविधियों के प्रचलन की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है कि प्रशासनिक अधिकरणों के लिए न्यायिक कार्यविधि संहिता तैयार की जानी चाहिए और उसे लागू किया जाना चाहिए।

iii) प्राधिकरणों द्वारा किए गए निर्णयों के साथ कारण भी अनिवार्यतः होने चाहिए। जेरेमी बेन्थम के अनुसार 'मान्य कानून' ऐसे कानून हैं, जिनके लिए अच्छे कारण दिए जा सकते हैं। उचित निर्णय उन लोगों को, जो इससे प्रभावित हैं, उसकी स्वाभाविक निष्पक्षता के बारे में आश्वस्त करता है और यह शक्ति के दुरुपयोग पर रोक लगाता है।

8.8 सारांश

निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि वर्तमान परिदृश्य में नागरिकों के जीवन में प्रशासन की बढ़ती हुई भूमिका को देखते हुए प्रशासनिक अधिकरणों से नागरिकों की शिकायतें दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने की आशा की जाती है। इस बढ़ती हुई भूमिका के कारण, लोगों की शिकायतों के निवारण और विवादों के न्यायनिर्णयन के लिए एक सक्षम प्राधिकारी की स्थापना करना महत्वपूर्ण है। विभिन्न मुद्दों को निपटाने के लिए जैसे विवादों और लोक सेवकों के विवादों और शिकायतों का निर्णय, उपभोक्ता विवादों का निवारण, औद्योगिक विवादों, आयकर आदि से संबंधित विवादों आदि के निर्णय करने के लिए देश में विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक अधिकरण स्थापित किए गए हैं। प्रशासनिक अधिकरण न्याय देने में अधिक लचीलापन प्रदान करते हैं और न्यायालयों को भी राहत देते हैं। परन्तु साथ ही वे कुछ सीमाओं में भी बंधे हैं जैसे वे कभी–कभी नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन करते हैं, न्याय निर्णय में एक समान पैटर्न का अभाव रहता है तथा कानून या न्यायिक कार्य की समुचित पृष्ठभूमि की कमी से भी ग्रस्त होते हैं। फिर भी, कुछ बचाव के साथ इनमें से कुछ सीमा तक निराकरण करना संभव है।

8.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्रशासनिक अधिकरणों की संरचना एवं उद्देश्य से आप क्या समझते हैं ?
2. प्रशासनिक अधिकरण एवं न्यायालय के बीच अंतर को विस्तार से समझाइये।
3. केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 के प्रमुख प्रावधानों की चर्चा कीजिये।

बहुविकल्पीय प्रश्न :

1. केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 के अन्तर्गत राज्य प्रशासकीय प्राधिकरण का गठन कौन कर सकता है?

(a) सर्वोच्च न्यायालय

(b) संसद

(c) भारत का राष्ट्रपति

(d) संबंधित राज्य सरकार

2. केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण के निर्णयों को भारत के सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है?

(a) अनुच्छेद–323 'क' के अधीन

(b) अनुच्छेद–137 के अधीन

(c) अनुच्छेद–243 'ग' के अधीन

(d) अनुच्छेद–343 के अधीन

3. केंद्रीय प्रशासनिक अधिकरण के अध्यक्ष के पद की अवधि कितनी होती है?

(a) 5 वर्ष या 70 वर्ष की आयु

(b) 6 वर्ष 65 वर्ष की आयु

(c) 5 वर्ष 65 वर्ष की आयु

(d) 7 वर्ष 65 वर्ष की आयु

बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर :

1. (b) 2. (a) 3. (c)

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. माहेश्वरी एस. आर. एंड ए. अवस्थी, 1987. पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

2. कुमार प्रभात, 2019. न्यायापालिका के बहुआयाम, प्रभात प्रकाशन: प्रा. लि., दिल्ली।

3. भारद्वाज आर. सी. 1995. भारत के संविधान में संशोधन, नॉर्थर्न बुक सेंटर, दिल्ली।

4. शर्मा ब्रजकिशोर, 2021, भारत का संविधान : एक परिचय, पी.एच.आई. लर्निंग प्रा. लि., दिल्ली।

5. फाड़िया, बी.एल., एंड कुलदीप फाड़िया, 2000, लोक प्रशासन: प्रशासनिक सिद्धांत और अवधारणाएँ, साहित्य भवन प्रकाशन, आगरा।

6. जैन, पी.सी., 1981, एडमिनिस्ट्रेटिव एडजुडिकेशन – फ्रांस, यूके, यूएसए और भारत का एक तुलनात्मक अध्ययन, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली

इकाई–09 न्यायिक प्रशासन

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 परिचय

9.2 भारतीय न्यायिक व्यवस्था

9.3 प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण

9.3.1 प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण का क्षेत्र

9.3.2 प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण की विधियां

9.4 प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण की सीमाएं

9.5 सारांश

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के उपरांत आप,

- भारतीय न्यायिक व्यवस्था को स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे।
- प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण के क्षेत्र एवं विधियों की चर्चा कर सकेंगे।
- प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण की सीमाओं का विस्तार से वर्णन कर पाएंगे।
- न्याय प्रदान करने की अन्य न्यायिक प्रणालियों की व्याख्या कर सकेंगे।

9.1 परिचय

सरकारी प्रशासन किसी भी देश का बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। प्रत्येक देश की अपनी न्यायिक प्रशासन प्रणाली होती है। भारत में न्यायपालिका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत का संविधान एक स्वतंत्र न्यायपालिका की परिकल्पना करता है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने के लिए संविधान में कई प्रावधान हैं। विधायिका और कार्यपालिका के मामले में ऐसा नहीं है। कार्यपालिका, विधायिका के प्रति जवाबदेह है। जहां कार्यपालिका और विधानमंडल के लिए केंद्र और राज्य सरकारों के रूप में संघीय प्रकार की व्यवस्था है, वहीं न्यायपालिका एकीकृत है। इस इकाई के अंतर्गत हम भारत की न्याय प्रणाली की विशेषताओं, प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण के क्षेत्र और विधियों तथा न्यायिक प्रशासन की सीमाओं पर गहराई से नजर डालेंगे।

9.2 भारतीय न्यायिक व्यवस्था

न्यायपालिका लोकतंत्र के महत्वपूर्ण स्तंभों में से एक है। अन्य दो विधायिका और कार्यपालिका हैं। इनका कार्य क्रमशः कानून बनाना और कानून का क्रियान्वयन करना है। न्यायपालिका किसी देश की रीढ़ होती है। भारत में न्यायपालिका मानवाधिकारों की संरक्षक, संविधान की रक्षक एवं शांति और सौहार्द्र की प्रवर्तक है। भारतीय न्यायिक व्यवस्था वैदिक युग में ही स्थापित होना प्रारम्भ हो गई थी। जब राज्य की स्थापना हुई तो राजा को न्याय प्रशासन का कार्य सौंपा गया। राजा वरूण देवता के प्रतिनिधि के रूप में न्याय करता था। वह पापियों को दण्ड देता था और सज्जनों की रक्षा करता था। राजा वेदों, ब्राह्मणों, श्रृति–साहित्य,आरण्यकों एवं उपनिषदों की सहायता से न्याय करता था। राज्य में अनेक न्यायालय होते थे परन्तु न्याय की अन्तिम अदालत राजा की अदालत होती थी। समय के साथ न्याय व्यवस्था में अनेक अनियमितताएं एवं भ्रष्टाचार भी देखने को

मिला। परन्तु प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था में चरित्रवान व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता रहा। एवं भ्रष्ट अधिकारी को दण्डित करने का प्रावधान भी किया गया। भारत में कई शासक राजवंशों में न्यायिक प्रणाली उनके प्रशासन की एक अनिवार्य विशेषता थी। ब्रिटिश शासन भारत में सामान्य कानून व्यवस्था की स्थापना के लिए जिम्मेदार है। आजादी के बाद, 26 जनवरी 1950 को भारत का संविधान लागू हुआ। भारतीय संविधान ने एक एकीकृत न्यायिक प्रणाली स्थापित की है जिसके शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय और उसके नीचे उच्च न्यायालय हैं। उच्च न्यायालय के अंतर्गत अधीनस्थ न्यायालयों, अर्थात् जिला न्यायालय और अन्य निचली अदालतों का एक पदानुक्रम होता है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय का उद्घाटन 28 जनवरी, 1950 को हुआ था। यह भारत सरकार अधिनियम, 1935 के तहत स्थापित भारत के संघीय न्यायालय का उत्तराधिकारी था। अनुच्छेद 124 सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना और संविधान से संबंधित है।

वर्तमान में, सर्वोच्च न्यायालय में 34 न्यायाधीश (एक मुख्य न्यायाधीश और तैंतीस अन्य न्यायाधीश) हैं। मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श के बाद की जाती है जो आवश्यक समझे जाते हैं। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा मुख्य न्यायाधीश और सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के ऐसे अन्य न्यायाधीशों से परामर्श के बाद की जाती है जो आवश्यक समझे जाते हैं। यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा की जाती है, लेकिन यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित दिशानिर्देशों के अनुसार किया जाता है। एक बार नियुक्त होने के बाद, वे कार्यपालिका के किसी भी नियंत्रण के अधीन नहीं होते हैं। संविधान में कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों का स्पष्ट पृथक्करण यह सुनिश्चित करता है कि न्यायपालिका स्वतंत्र और निष्पक्ष है। उच्च न्यायालय किसी राज्य के न्यायिक प्रशासन में शीर्ष न्यायालय है। किसी राज्य में न्यायपालिका में एक उच्च न्यायालय और अधीनस्थ न्यायालयों का एक पदानुक्रम होता है। जिला न्यायालयों के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्यों के राज्यपालों द्वारा उच्च न्यायालयों के परामर्श से की जाती है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 214 किसी राज्य के उच्च न्यायालय की स्थापना से संबंधित है।

स्थानीय स्तर पर अधीनस्थ न्यायालय और जिला न्यायालय उच्च न्यायालयों के अधीन कार्य करते हैं और सर्वोच्च न्यायालय पूरी व्यवस्था का नेतृत्व करता है। यह भारत के न्यायिक प्रशासन की मूल योजना है। भारत में न्यायपालिका न केवल स्वतंत्र है बल्कि कार्यपालिका की किसी भी मनमानी से नागरिकों की रक्षा करने की भूमिका भी निभाती है। भारत का संविधान नागरिकों के मौलिक अधिकारों को न्यायोचित बनाकर यह सुनिश्चित करता है। न्यायपालिका विधानमंडलों की भी जाँच कर सकती है। भारत का संविधान न्यायपालिका को संविधान के प्रावधानों की व्याख्या करने का अधिकार प्रदान करके इसे सुनिश्चित करता है। इस अधिकार का प्रयोग करते समय न्यायपालिका विधायी अधिनियमों की संवैधानिकता की जांच कर सकती है और विधानमंडल द्वारा पारित किसी भी कानून को अधिकारातीत घोषित कर सकती है।

सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र के तीन क्षेत्र हैं:

1. मूल क्षेत्राधिकार
2. अपीलीय क्षेत्राधिकार, और
3. सलाह सम्बन्धी क्षेत्राधिकार

इसका मूल क्षेत्राधिकार भारत सरकार और एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवादों और भारत के राज्यों के बीच विवादों तक फैला हुआ है। यह नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षक और गारंटर के रूप में भी कार्य करता है। दीवानी और फौजदारी के अलावा संवैधानिक और विशेष अनुमति के मामले इसके अपीलीय क्षेत्राधिकार में आते हैं। सर्वोच्च न्यायालय का सलाहकार क्षेत्राधिकार राष्ट्रपति द्वारा संदर्भित मामलों से संबंधित है।

9.3 प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण

प्रशासन पर बाहरी नियन्त्रण के दो साधन हैं—प्रथम विधायी और दूसरा न्यायिक। विधायी नियन्त्रण कार्यपालिका शाखा की नीति तथा व्यय को नियन्त्रित करता है और न्यायपालिका का नियन्त्रण प्रशासनिक कार्यों की वैधानिकता निश्चित करता है। इस प्रकार जब कोई सरकारी अधिकारी नागरिकों के संवैधानिक या

मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करते हैं तो न्यायपालिका उनकी रक्षा करती है। न्यायपालिका का कार्य देश के कानूनों की व्यवस्था करना और उन्हें भंग करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था करना है। लोक प्रशासन के सन्दर्भ में न्यायपालिका का प्रमुख उत्तरदायित्व नागरिक अधिकारों को उनकी सीमा में बनाये रखना है। साथ ही न्यायपालिका भ्रष्टाचार, अनियमितता, अत्याचार, आदि दोषों पर प्रतिबन्ध लगाती है। भारतीय न्याय–व्यवस्था में न्यायिक पुनरीक्षा को अपनाया गया है और न्यायपालिका को स्वतन्त्र रखा गया है। ग्रेट ब्रिटेन के समान भारत में भी कानून के शासन की व्यवस्था की गयी है। किन्तु न्यायपालिका लोक प्रशासन पर अपना नियन्त्रण कुछ परिस्थितियों, सीमाओं और निर्धारित अवसरों पर ही करती है।

9.3.1 प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण का क्षेत्र

सरकार के निरंतर बढ़ते हुए कार्यकलाप और विभिन्न प्रशासनिक अभिकरणों तथा सरकारी अधिकारियों को दिए गए विवेकाधिकारों के संदर्भ में, नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना तथा सुरक्षा प्रदान करना महत्वपूर्ण और प्रमुख कार्य है। न्यायालय अपनी स्वयं की पहल पर प्रशासनिक कार्यकलाप में हस्तक्षेप नही करता है, भले ही ऐसे कार्यकलाप मनमाने हों। न्यायालय तभी कार्य करते हैं जब उनके हस्तक्षेप की माँग की जाती है। न्यायिक हस्तक्षेप निम्नलिखित मामलों तक सीमित होता है:

i) अधिकारों एवं सत्ता का दुरुपयोग

जब लोक सेवा के अधिकारी अपने पद का प्रयोग किसी व्यक्तिगत कारण से दूसरे व्यक्ति को नुकसान पहुँचाने या किसी के प्रति बदले की भावना से करते हैं तो प्रभावित व्यक्ति न्यायलय की शरण ले सकता है।

ii) अधिकार क्षेत्र का अभाव

जब लोक सेवा के अधिकारियों द्वारा कोई ऐसा कार्य किया जाता है जो उनके अधिकार क्षेत्र से बाहर है और उससे किसी नागरिक को कोई हानि पहुँचती है, तो नागरिक अपने अधिकार की रक्षा के लिए न्यायालय की शरण ले सकता है। प्रभावित नागरिक जब न्यायालय में आवेदन करके यह इंगित करता है कि अमुक अधिकारी द्वारा किया गया कार्य उसके अधिकार–क्षेत्र या भौगोलिक क्षेत्र में नहीं आता और तथ्यों की जाँच के आधार पर क्षेत्र का दुरुपयोग प्रमाणित हो जाता है तो न्यायालय उन कार्यों को अवैधानिक घोषित कर देता है। इसे न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार कहा जाता है।

iii) तथ्यों की त्रुटि

जब कोई सरकारी अधिकारी अपने किसी प्रशासकीय कार्य में तथ्य का अच्छी तरह से पता लगाये बिना किसी नागरिक को उसे हानि पहुँचाने वाला कोई आदेश देता है तो नागरिक अपने अधिकार की रक्षा के लिए न्यायालय की सहायता ले सकता है।

iv) वैधानिक त्रुटि

इस बात की पूरी सम्भावना रहती है कि सरकारी अधिकारी कानून की गलत व्याख्या करें और नागरिकों को कानून का गलत ढंग से प्रयोग कर हानि पहुँचायें। कानून की शब्दावली में इसे अपकरण (misfeasance) कहा जाता है। ऐसी स्थिति में प्रभावित व्यक्ति न्यायालय में अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अपील कर सकता है। जाँच के पश्चात् यदि न्यायालय ऐसा समझता है कि अधिकारी ने कानून की गलत व्याख्या की है तो उन कार्यों को न्यायालय असंवैधानिक घोषित कर सकता है।

v) समुचित प्रक्रिया की गलती

लोकतंत्र में सरकारी कार्रवाई का आधार ''उचित प्रक्रिया'' है। उत्तरदायी सरकार का अभिप्राय ऐसी सरकार से है जो कार्यविधि के अनसार कार्य करे। प्रशासन में कार्यविधि जिम्मेदारी, खुलापन और न्याय सुनिश्चित करती है। लोक सेवा के प्रायः सभी विभागों को निर्धारित प्रक्रिया के अन्दर रहकर ही कार्य करना पड़ता है। यदि अधिकारी या विभाग कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार कार्य नहीं करते हैं और किसी व्यक्ति को सरकारी अधिकारी के ऐसे कार्य से हानि पहुँचती है तो वे न्यायालय की शरण ले सकते हैं।

9.3.2 प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण की विधियां

प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण की अनेक विधियां होती हैं। इन विधियों का प्रयोग करने की शक्ति न्यायपालिका को संविधान, सामान्य कानून तथा कुछ हद तक विधायिका के कानून द्वारा प्राप्त होती है। न्यायपालिका निम्नलिखित विधियों द्वारा प्रशासन पर नियन्त्रण रखती है—

1. सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध अभियोग

समस्त सरकारी पदाधिकारी अपने कार्यों के लिए न्यायालयों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। सामान्य नागरिक की भाँति सरकारी पदाधिकारियों के विरुद्ध भी अभियोग प्रस्तुत किया जा सकता है या उन पर मुकदमा चलाया जा सकता है। जब सरकारी अधिकारी की आधिकारिक क्षमता में किए गए कार्यों के लिए उसके विरुद्ध आपराधिक कार्रवाई की जानी होती है तब राज्य के प्रमुख, अर्थात् राष्ट्रपति या राज्यपाल की पूर्व-स्वीकृति लेना आवश्यक है। भारत में संविधान द्वारा राष्ट्रपति और राज्यपालों को किसी भी प्रकार की न्यायिक कार्रवाई से मुक्त रखा गया है। केवल संसद ही राष्ट्रपति पर महाभियोग लगा सकती है।

2. सरकार के विरुद्ध अभियोग

नागरिकों को स्वतन्त्रता एवं अधिकार संविधान द्वारा प्रदान किये जाते हैं और संविधान ही उनकी रक्षा करने के लिए उत्तरदायी है। इनकी रक्षा के लिए राज्य के विरुद्ध भी न्यायालय में अभियोग लगाया जा सकता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 300 में कहा गया है कि "भारत सरकार के विरुद्ध या उसके द्वारा भारतीय संघ के नाम से अभियोग प्रस्तुत किये जा सकते हैं। किसी राज्य की सरकार के विरुद्ध या उसके द्वारा उस राज्य के नाम से भी अभियोग प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसका आशय यह है कि सिर्फ केन्द्र सरकार और राज्य द्वारा ही मुकदमा दायर नहीं किया जाता है बल्कि केन्द्र और राज्य सरकार के विरुद्ध भी मुकदमा दायर किया जाता है और सरकार को एक विरोधी पक्ष के रूप में न्यायालय में ले जाया जा सकता है। भारत में सरकार के विरुद्ध संविदा और अपकार–कृत्य (Tort) सम्बन्धी मुकदमे दायर किये जाते हैं। किन्तु प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा पदों के दुरुपयोग के मामले या अन्य भ्रष्टाचार सम्बन्धी मामले में अधिकारी के विरुद्ध व्यक्तिगत तौर पर मुकदमा चलता है।

3. प्रशासनिक कार्यों तथा निर्णयों का न्यायिक पुनरावलोकन

यह न्यायिक नियंत्रण का बहुत महत्वपूर्ण तरीका है। यह सिद्धान्त उन देशों में विद्यमान है, जहाँ संविधान की श्रेष्ठता होती है जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत, ऑस्ट्रेलिया, आदि। भारत में न्यायपालिका को यह अधिकार प्राप्त है कि वह समय–समय पर प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करती रहे। यदि कोई प्रशासनिक निर्णय संविधान के विरुद्ध है तो उसको पुनरीक्षित कर असंवैधानिक घोषित करे। इस प्रकार न्यायिक पुनरीक्षा को नागरिकों के अधिकारों तथा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन माना जाता है।

4. कानूनी अपील

न्यायालय को प्रशासकीय आज्ञाओं और निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सुनने का अधिकार प्राप्त है। न्यायिक नियन्त्रण का यह साधन वहीं अपनाया जाता है जहाँ कानून द्वारा इस प्रकार की अपील करने का अधिकार दिया गया हो।

5. अन्य विधियां

इसके अंतर्गत यदि कार्यपालिका द्वारा जारी किए गए अध्यादेश, हस्तांतरित व्यवस्थापन के अंतर्गत बनाये गये कानून संविधान के अनुरूप नहीं हैं तो न्यायपालिका उन्हें अस्वीकार कर सकती है। इसके अलावा, न्यायालयों को प्रत्यायोजित विधायी शक्ति के किसी भी प्रश्न के संबंध में यह निर्धारित करने की भी शक्ति है कि प्रत्यायोजित विधायी शक्ति के लिए कानूनी सत्ता थी या नहीं। यह निर्धारित करना न्यायालयों का कर्तव्य है कि प्रत्यायोजित विधान संवैधानिक है या नहीं, अर्थात् बनाया गया कानून प्रत्यायोजन के दायरे में आता है या नहीं।

हम जिन न्यायिक नियंत्रण की चर्चा पहले ही कर चुके हैं, उसके अलावा न्यायपालिका को प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण रखने के लिये कुछ विशेष साधन प्राप्त हैं। इन्हीं विशेष साधनों को असाधारण न्यायिक उपचार कहा जाता है। भारतीय संविधान में उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को कुछ विशेष प्रकार के लेख या

आदेश जारी करने के अधिकार प्राप्त हैं। ये आदेश या लेख भी प्रशासन पर एक प्रकार से अंकुश रखने का काम करते हैं। इनकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है–

1. बन्दी प्रत्यक्षीकरण

लेटिन भाषा के शब्द "हैबियस कॉर्पस" का शाब्दिक अर्थ "शरीर को प्राप्त करना" है। बन्दी प्रत्यक्षीकरण से तात्पर्य है कि न्यायालय उस व्यक्ति को जिसने व्यक्ति को बन्दी बना रखा है, आदेश देता है कि वह बन्दी बनाये गये व्यक्ति को सशरीर न्यायालय में उपस्थित करे, जिससे उसे बन्दी बनाये जाने के औचित्य पर विचार किया जा सके। अगर उस व्यक्ति को बन्दी बनाये जाने के पर्याप्त कारण उपलब्ध न हों तो बन्दी बनाये गये व्यक्ति को न्यायालय मुक्त भी कर सकता है। यह रिट व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए बहुत बड़ा बचाव है, और इसे व्यक्तिगत स्वतंत्रता की आधारशिला के रूप में माना जा सकता है। इसका उद्देश्य यह है कि बिना पर्याप्त कारण के मनमाने ढंग से किसी भी व्यक्ति को बन्दी नहीं बनाया जाना चाहिए। फिर भी, निवारक निरोध अधिनियम के उपबंध को ध्यान में रखते हुए भारत में इसकी उपयोगिता सीमित की गई है।

2. परमादेश

लैटिन शब्द "मैनडेमस" का शाब्दिक अर्थ समादेश या परमादेश है। यदि कोई सरकारी अधिकारी अपने उस कार्य के निष्पादन में असफल होता है जो उसकी सरकारी ड्यूटी का भाग है और इससे किसी व्यक्ति के अधिकार का उल्लंघन होता है तो इस रिट के माध्यम से उसे कार्य करने का आदेश दिया जाएगा। परमादेश लेख द्वारा न्यायालय सार्वजनिक निकाय, सार्वजनिक कर्मचारी, निगम या संस्था को आदेश दे सकते हैं कि वह अपने कर्तव्य का पालन कानून के अनुसार करें।

3. निषेधाज्ञा

निषेधाज्ञा उच्च स्तर के न्यायालयों द्वारा अधीनस्थ श्रेणी के न्यायालयों को जारी किया जाने वाला न्यायिक रिट है, जिसमें अधीनस्थ न्यायालयों को ऐसे कार्य करने से रोका जाता है जो उनके अधिकार क्षेत्र से बाहर हैं। यह रिट अधीनस्थ न्यायालयों को विवादपूर्ण विषयों पर विचार करने से रोकने के लिए प्रसारित किया जाता है। इसे केवल न्यायिक या अर्द्धन्यायिक न्यायाधिकरणों के विरुद्ध ही जारी किया जाता है।

4. उत्प्रेषण

लेटिन शब्द "सरटीओरेरी" का अर्थ प्रमाणित होना है। यह किसी उच्च न्यायालय द्वारा अधीनस्थ न्यायालयों को उस समय जारी किया जाता है जब वह किसी मुकदमे की कार्रवाई से असन्तुष्ट हो। इसके अन्तर्गत उच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालय से सभी प्रकार के रिकॉर्ड इस बात की जाँच–पड़ताल के लिए अपने पास मँगवा सकता है कि अधीनस्थ न्यायालय अपने अधिकार–क्षेत्र से बाहर तो नहीं गया है। यह लेख परमादेश और निषेधाज्ञा के गुणों का मिश्रण होता है क्योंकि इसके अनुसार कुछ करने की आज्ञाएँ दी जाती हैं।

5. अधिकार पृच्छा

अधिकार पृच्छा का शाब्दिक अर्थ है किस प्राधिकार पर। अधिकार–पृच्छा लेख द्वारा कोई व्यक्ति यदि गैर–कानूनी ढंग से किसी पद या अधिकार का प्रयोग करता है तो न्यायालय उसे ऐसा करने से रोक सकते हैं। इस लेख का उद्देश्य सरकारी पद सम्बन्धी किसी दावे की जाँच करना है। यदि उक्त दावा सिद्ध न हो सका तो उसे उस पद से हटा दिया जाएगा। इस प्रकार, यह सरकारी पद/कार्यालय के अनुचित रूप से ग्रहण करने के विरुद्ध शक्तिशाली तंत्र हैं।

9.4 प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण की सीमाएं

प्रशासन का कार्य कानूनों को लागू करना है। न्यायपालिका प्रशासन पर नजर रखती है। इसे प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण कहा जाता है। हालाँकि, भारत में प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण कितना प्रभावी हो सकता है, इसकी सीमाएँ हैं जो इस प्रकार हैं :

I) कार्यविधि संबंधी कठिनाइयाँ

आजकल प्रशासन का कार्य अत्यधिक तकनीकी तथा विशेषीकृत होता जा रहा है। न्यायालयों के न्यायाधीश सामान्यतः विशेष तकनीकी योग्यता के अभाव में समुचित निर्णय लेने की स्थिति में नहीं होते हैं।

II) न्यायिक नियन्त्रण का शव–परीक्षण स्वरूप

न्यायिक नियन्त्रण घटना के बाद की प्रक्रिया होती है। जब कोई घटना घट जाती है तब उसे न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है और तभी न्यायिक प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। अधिकांश मामलों मे न्यायिक हस्तक्षेप तब किया जाता है, जब प्रशासनिक कार्रवाइयों से काफी नुकसान हो गया होता है।

III) खर्चीली न्यायिक प्रक्रिया

न्यायालयों की प्रक्रिया अत्यन्त खर्चीली एवं जटिल होती है। भारत में न्याय प्रणाली का झुकाव धनी वर्ग की ओर है, इस आलोचना में सच्चाई नजर आती है। प्रशासनिक मनमानी और न्यायिक निष्क्रियता का शिकार असहाय निर्धन होता है।

IV) संवैधानिक सीमाएं

अनेक प्रशासकीय कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें न्यायपालिका के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जाता है। ऐसे प्रशासकीय कार्यों का न्यायिक पुनरावलोकन या न्यायिक समीक्षा नहीं की जाती है।

V) न्यायिक प्रक्रिया में देरी

एक और सीमा यह है कि न्यायिक नियन्त्रण खर्चीला होने के साथ–साथ पर्याप्त समय भी लेता है। कुछ न्यायाधीश मामलों का फैसला करने में धीमे होते हैं। इससे मुद्दों को सुलझाने और प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण ठीक से लागू करने में देरी होती है। न्यायालयों में लंबी देरी से समस्याओं का त्वरित समाधान करने के लिए प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण की क्षमता कम हो जाती है।

उपरोक्त बाधाओं को दूर करने के लिए, कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गए हैं, जैसे जनहित याचिका, कानूनी सहायता और ग्राम न्यायालय। ऐसे प्रयास न्यायिक इच्छा को बढ़ाने में योगदान देंगे ताकि गरीब से गरीब लोगों को न्याय की आसान पहुँच प्रदान की जा सके।

9.5 सारांश

कानून के शासन को लागू करने में न्यायपालिका की महत्वपूर्ण भूमिका है। न्यायिक प्रणाली का मुख्य उद्देश्य नागरिकों के अधिकारों को सुनिश्चित करना है। भारत में न्यायिक प्रणाली कार्यपालिका से न्यायपालिका की स्वतंत्रता और न्यायपालिका की एकीकृत प्रणाली के सिद्धांतों पर आधारित है। प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य प्रशासनिक कार्यों की वैधता सुनिश्चित करना है। इस इकाई में, हमने भारतीय न्यायिक व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं; तथा प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण के क्षेत्र, विधियां एवं सीमाओं पर चर्चा की है।

9.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण से आप क्या समझते हैं? इसके क्षेत्र के बारे में विस्तार से वर्णन कीजिए।

2. प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण की विधियों की व्याख्या कीजिए।

3. प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण की सीमाओं पर प्रकाश डालिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न :

1. भारतीय संविधान का कौन-सा अनुच्छेद उच्चतम न्यायालय की स्थापना से संबंधित है?
   - (a) अनुच्छेद–134
   - (b) अनुच्छेद–124
   - (c) अनुच्छेद–226
   - (d) अनुच्छेद–324
2. भारत के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा –
   - (a) प्रधानमंत्री की सलाह पर की जाती है।
   - (b) उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श के बाद की जाती है।
   - (c) वरिष्ठता के आधार पर की जाती है।
   - (d) सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से परामर्श के बाद की जाती है जो आवश्यक समझे जाते हैं।
3. भारतीय संविधान का अनुच्छेद 226 किससे संबंधित है?
   - (a) रिट जारी करने की उच्च न्यायालय की शक्ति
   - (b) राज्य के उच्च न्यायालय की स्थापना
   - (c) जिला न्यायालयों की स्थापना
   - (d) उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति
4. उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति कौन करता है ?
   - (a) राज्यपाल प्रधानमंत्री की सलाह पर
   - (b) भारत के मुख्य न्यायाधीश
   - (c) राज्यपाल भारत के मुख्य न्यायाधीश की सलाह पर
   - (d) राष्ट्रपति

9.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. माहेश्वरी एस. आर. एंड ए. अवस्थी, 1987. पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
2. कुमार प्रभात, 2019. न्यायापालिका के बहुआयाम, प्रभात प्रकाशन: प्रा. लि., दिल्ली।
3. भारद्वाज आर. सी. 1995. भारत के संविधान में संशोधन, नॉर्थर्न बुक सेंटर, दिल्ली।
4. शर्मा ब्रजकिशोर, 2021, भारत का संविधान: एक परिचय, पी.एच.आई. लर्निंग प्रा. लि., दिल्ली।
5. फाड़िया, बी.एल., एंड कुलदीप फाड़िया, 2000, लोक प्रशासन: प्रशासनिक सिद्धांत और अवधारणाएँ, साहित्य भवन प्रकाशन, आगरा।
6. जैन, पी.सी., 1981, एडमिनिस्ट्रेटिव एडजुडिकेशन – फ्रांस, यूके, यूएसए और भारत का एक तुलनात्मक अध्ययन, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

इकाई–10 केन्द्र एवं राज्यों के बीच प्रशासनिक सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 केन्द्र एवं राज्यों के बीच प्रशासनिक सम्बन्ध

10.3 सारांश

10.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.5 बोध प्रश्न

10.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अन्तर्गत हम संविधान में वर्णित केन्द्र–राज्य संबंधों के बारे में जानेंगे।
- इस इकाई से केन्द्र/राज्य के प्रशासनिक सम्बन्धों के बारे में जानकारी प्राप्त होगी। किसी राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था में केन्द्र की भूमिका कितनी प्रभावपूर्ण होती है। वह इसे किस प्रकार प्रभावित करता है के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- राज्यों पर केन्द्र सरकार के कार्यकारी नियंत्रण के तरीकों का वर्णन मिलेगा।

10.1 प्रस्तावना

भारतीय संघात्मक प्रणाली में केन्द्र राज्य सम्बन्धों का विशेष स्थान है। भारतीय संविधान के विभिन्न प्रावधानों में केन्द्र राज्य सम्बन्धों में ब्यौरावार वर्णन स्पष्ट दिया गया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में केन्द्र राज्य सम्बन्धों में शक्तियों को राज्य सरकार और प्रशासन लेकर टकराव रहा है। यह टकराव बदलती राजनीतिक परिस्थितियों राजनीतिक दलों की आपसी प्रतिद्वंद्विता एवं राज्य की भौगोलिक स्थिति व अन्य कारणों से रहा है। इस स्थान पर यह उचित होगा कि भारत की परिसंघात्मक प्रणाली के अध्ययन के साथ–साथ हम केन्द्र राज्य सम्बन्धों का ब्यौरावार विवरण देख लें।

केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन इस अवस्था के प्रति स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है कि भारतीय संघीय व्यवस्था किसी सनातनी सिद्धांत का अनुकरण नहीं करती। इसका अपना ही स्वरूप है, हालांकि यहाँ संघीय और एकात्मक प्रतिमानों का सुन्दर मिश्रण प्रतीत होता है जिसका निश्चित झुकाव एकात्मक प्रतिमान की ओर है। इसे एक नवोदित लोकतंत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तैयार किया गया है जिसका संचालन एक गतिशील और प्रगतिशील राष्ट्र के लोग कर रहे हैं।

संघात्मक शासन व्यवस्था की सबसे कठिन समस्या संघ तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्धों का समायोजन करना है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने इस सम्बन्ध में विस्तृत उपबन्धों की आवश्यकता अनुभव की ताकि प्रशासनिक क्षेत्र में संघ तथा राज्यों के बीच किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न न हो।

10.2 केन्द्र एवं राज्यों के बीच प्रशासनिक सम्बन्ध

1. अनुच्छेद 256 में कहा गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का उपयोग इस प्रकार किया जायेगा कि संसद के बनाये गए कानूनों और इस राज्य में लागू होने वाले विद्यमान कानूनों का अनुपालन सुनिश्चित किया जाये और संघ की कार्यपालक शक्ति राज्य को ऐसे निर्देश देने तक विस्तृत होगी जो इस प्रयोजन के लिए भारत सरकार की दृष्टि में आवश्यक होंगे।
2. अनुच्छेद 257 में कहा गया है कि हर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का उपयोग इस प्रकार किया जायेगा जिससे संघ की कार्यपालिका शक्ति राज्यों को ऐसे निर्देश देने तक विस्तृत होगी जो उस प्रयोजन के लिए भारत सरकार की दृष्टि में आवश्यक होंगे।

3. अनुच्छेद 258 में कहा गया है कि राष्ट्रपति राज्य की सरकार की सहमति से उस सरकार को या उसके अधिकारियों को सशर्त या बिना शर्त के ऐसे मामलों से सम्बन्धित कार्य सौंप सकता है जहाँ तक संघ की कार्यपालिका शक्ति विस्तृत है। इसी प्रकार, राज्य का राज्यपाल भारत सरकार की सहमति से उसको या उसके अधिकारियों को सशर्त या बिना शर्त के ऐसे कार्य सौंप सकता है जो राज्य सरकार की कार्यपालिका शक्ति के अधीन आते हैं।

4. अनुच्छेद 260 में कहा गया है कि भारत सरकार किसी ऐसे क्षेत्र की सरकार के साथ, जो भारत का अंग नहीं है, उस सरकार में निहित विधायिनी, प्रशासकीय या न्यायिक कार्यों के करने के लिए वचनबद्ध हो सकती है, लेकिन ऐसा प्रत्येक इकरार उस समय लागू विदेशी अधिकार–क्षेत्र से सम्बन्धित कानून के अधीन होगा और उसी के द्वारा अधिशासित होगा।

5. अनुच्छेद 261 में व्यवस्था की गई है कि भारत के सारे क्षेत्र में सभी सार्वजनिक अधिनियमों, अभिलेखों और संघीन व हर राज्य की न्यायिक कार्यवृत्तों में पूर्ण आस्था और विश्वास व्यक्त किया जाएगा।

6. अनुच्छेद 262 में कहा गया है कि संसद किसी कानून द्वारा जल के इस्तेमाल, वितरण या नियंत्रण के बारे में या अंतःराज्य नदी या नदी घाटी के बारे में किसी विवाद या शिकायत पर निर्णय की व्यवस्था पर सकती है। संसद यह व्यवस्था भी कर सकती है कि इस विवाद या शिकायत के बारे में उच्चतम न्यायालय या कोई अन्य न्यायालय अपने अधिकार–क्षेत्र का उपयोग नहीं करेगा।

7. अंतःराज्य समन्वय के क्षेत्र में अनुच्छेद 263 का अपना ही महत्त है। यदि किसी समय भारत के राष्ट्रपति को ऐसा लगे कि अंतःराज्य परिषद् की स्थापना से सार्वजनिक हित का साधन हो पाएगा तो वह एक आदेश द्वारा ऐसी परिषद् की स्थापना, इसके कार्यों और उनके स्वरूप का निर्धारण और इसके संगठन और प्रक्रिया को निर्धारित कर सकता हैं।

8. अनुच्छेद 355 के अनुसार केन्द्रीय सरकार बाह्म आक्रमणों और आंतरिक अव्यवस्थाओं से राज्यों की रक्षा करने के लिए आवश्यक कदम उठा सकती है और यह सुनिश्चित कर सकती है कि हर राज्य की सरकार संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार चलाई जाए।

9. सर्वोपरि संविधान का अनुच्छेद 356 है जो राष्ट्रपति को ऐसी शक्तियां प्रदान करता है जिनके अधीन वह राज्य में संवैधानिक मशीनरी के विघटन के नाम पर आपातकालीन स्थिति का आरोपण कर सकता हैं।

10. अंत में, भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा में अधिकारियों की नियुक्ति संघ लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है किन्तु राज्यों की सरकारों की सेवा करने के लिए उन्हें राज्यों में भेज दिया जाता है। जबकि वह अपने वेतन और भत्ते राज्य सरकारों से प्राप्त करते हैं, उनके वेतनमान और पारिश्रमिकों का निर्धारण केवल केन्द्र द्वारा ही किया जाता है। साथ ही, इन वर्गों के किसी अधिकारी के खिलाफ अनुशसनिक कार्यवाही संघ लोक सेवा आयोग के परामर्श से केन्द्रीय गृह मंत्रालय द्वारा की जा सकती है।

प्रशानिक सम्बन्ध : संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में :– भारतीय संविधान के ग्यारहवें भाग दूसरे अध्याय में केन्द्र तथा राज्यों के बीच प्रशानिक सम्बन्धों की चर्चा की गयी है। संविधान के अनुच्छेद 73 के अनुसार केन्द्र की प्रशासकीय शक्ति उन विषयों तक सीमित है जिन पर संसद को विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 162 के अनुसार राज्यों की प्रशासकीय शक्तियाँ उन विषयों तक सीमित हैं जिन पर राज्य विधानसभाओं को कानून बनाने का अधिकार है। समवर्ती सूची के विषयों के सम्बन्ध में प्रशासनिक अधिकार साधारणतया राज्यों में निहित हैं किन्तु इन विषयों पर राज्य की प्रशासकीय शक्तियों को संघ की ऐसी प्रशासनिक शक्तियों द्वारा सीमित रखा गया है जो या तो संविधान द्वारा या संसदीय विधि द्वारा प्रदत्त हैं।

प्रशासनिक सम्बन्ध :– भारत में संघ और राज्यों के बीच प्रशासनिक सम्बन्ध निर्धारित करने वाले उपबन्धों को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है– (क) राज्यों के ऊपर संघीय नियंत्रण के उपाय, (ख) राज्यों के परस्पर सौजन्य स्थापित करने के उपाय।

(क) **राज्यों के ऊपर संघीय नियंत्रण के उपाय** :– संकटकाल में केन्द्रीय सरकार का राज्य सरकार के ऊपर पूर्ण नियंत्रण रहता है। साधारण काल में यद्यपि राज्य सरकारों को सामान्यतया अपने क्षेत्र में पूर्ण

सत्ता प्राप्त रहती है फिर भी केन्द्रीय सरकार कुछ सीमा तक उन्हें नियंत्रित करती है। नियंत्रण के निम्नलिखित साधनों को अपनाया गया है :–

1. **राज्य सरकारों को निर्देश** :– केन्द्र द्वारा राज्य को निर्देश आदर्श संघीय व्यवस्था के प्रतिकूल है, लेकिन 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में इस पद्धति को अपनाया गया था और उसी के आधार पर नवीन संविधान में इसे अपनाया गया है।

अनुच्छेद 256 के अनुसार राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होगा कि वह संसद द्वारा निर्मित विषयों के अनुकूल हो। संघीय कार्यपालिका को यदि वह आवश्यक समझे तो, इस सम्बन्ध में राज्य सरकारों को आवश्यक निर्देश देने का अधिकार प्राप्त है। ऐसा उपबन्ध इसलिए किया गया है कि संसद द्वारा पारित विधियों के क्रियान्वयन के मार्ग में कोई बाधा न पहुंचे।

अनुच्छेद 257 में उपबन्धित किया गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होना चाहिए जिससे संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में बाधा या प्रतिकूल प्रभाव न पड़े तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने तक विस्तृत होगा, जो भारत सरकार को उस प्रयोग के लिए आवश्यक दिखायी दे। यह देखना भी संघ की कार्यपालिका का कर्तव्य है कि राज्य सरकारें सामरिक महत्त्व की सड़कों और अन्य संचार साधनों की उचित देखभाल करें।

संघीय कार्यपालिका किसी राज्य क्षेत्र के अन्तर्गत रेल पथ की रक्षा के लिए उस राज्य की सरकार को निर्देश दे सकती है। संचार साधनों तथा रेल पथों के निर्माण, देखभाल तथा संरक्षण के सम्बन्ध में संघीय कार्यपालिका के निर्देश के कारण जो अतिरिक्त व्यय होगा, उस अतिरिक्त धनराशि का वहन संघीय सरकार को करना होगा।

उल्लेखनीय यह है कि अनुच्छेद 356 संघीय कार्यपालिका को उसके निर्देशों को लागू करने के लिए बाध्यकारी शक्ति प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत राज्य सरकार द्वारा निर्देशों को पालन न किये जाने पर राष्ट्रपति संकटकाल की उद्घोषणा कर राज्य के शासन को अपने हाथ में ले सकता हैं।

2. **राज्य सरकारों को संघीय कृत्य सौंपना** :– अनुच्छेद 258 में निर्धारित शतों के अनुसार संघ राज्यों को अपने कुछ प्रशासनिक कृत्य हस्तान्तरित कर सकता है तथा राज्य संघ का अपने कुछ प्रशासनिक कृत्य सौंप सकते हैं। संघीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को अपने प्रशासनिक कृत्य सौंप जाने पर इन कृत्यों का संपन्न करने में जो भी खर्च होगा उसका वहन संघीय सरकार करेगी।

3. **अखिल भारतीय सेवाएं** :– संविधान संघ तथा राज्य सरकारों के लिए अलग–अलग सेवाओं की व्यवस्था करता है, लेकिन कुछ ऐसी सेवाओं की भी व्यवस्था है जो संघ तथा राज्य सरकारों के लिए सामान्य हैं, उन्हें अखिल भारतीय सेवाएं कहते हैं। अनुच्छेद 312 के अनुसार राज्यसभा उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के कम से कम दो–तिहाई बहुमत द्वारा प्रस्ताव पास कर किसी नवीन अखिल भारतीय सेवा का निर्माण कर सकती है। यद्यपि इन सेवाओं के सदस्यों द्वारा वेतन भत्ते आदि राज्य सरकारों से प्राप्त किये जाते हैं, लेकिन उनकी वेतन श्रृंखला और अन्य उपलब्धियों केन्द्र सरकार द्वारा ही निश्चित की जाती हैं, इसके अतिरिक्त इन सेवाआं के सदस्यों के विरूद्ध कोई भी अनुशासन सम्बन्धी कार्यवाही संघीय गृह मंत्रालय द्वारा संघीय लोक सेवा आयोग के परामर्श के आधार पर ही की जा सकती है। ये अखिल भारतीय सेवाएं राज्य सरकारों पर केन्द्रीय नियंत्रण के बहुत अधिक महत्तपूर्ण उपाय हैं।

4. **सहायता अनुदान** :– अनुच्छेद 257 के अनुसार संसद राज्यों को आवश्कतानुसार सहायता व अनुदान भी दे सकती है। अनुदान देते समय संसद राज्यों पर कुछ शर्तें लगाकर उनके व्यय को भी नियंत्रित कर सकती है।

5. **आपातकाल की घोषणा** :– इन सबके अतिरिक्त जब राष्ट्रपति अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा करते हैं तब राज्यों पर संघीय सरकार का पूर्ण नियंत्रण स्थापित हो जाता है। यदि राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि युद्ध, बाह्म आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से भारत या उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है तो वह 'आपात की उद्घोषणा' कर सकता है। यह उद्घोषणा ऐसी किसी घटना के वास्तव में होने के पहले भी की जा सकती है अर्थात् जब बाह्म आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह के कारण भारत या उसके

किसी भाग की सुरक्षा संकट में हैं। राष्ट्रपति द्वारा आपात की घोषणा की औचित्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वास्तव में युद्ध या सशस्त्र विद्रोह हो गया है। राष्ट्रपति यह उद्घोषणा कर सकता है कि यदि उसका यह समाधान हो जाता है कि ऐसे बाह्म आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह का संकट सन्निकट है, किन्तु राष्ट्रपति ऐसी कोई उद्घोषणा तब तक नहीं करेगा जब तक कि प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल स्तर के अन्य मंत्री उसे लिखित रूप में ऐसी घोषणा करने के लिए सिफारिश नहीं करते हैं।

ऐसी प्रत्येक उद्घोषणा को संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाएगा और यदि दोनों सदन संकल्प द्वारा अनुमोदन नहीं करते हैं तो उद्घोषणा की तारीख से एक मास की समाप्ति पर उद्घोषित प्रवर्तन में नहीं रहेगा। किसी राज्य में सांविधानिक तंत्र के विफल हो जाने पर प्रशासन चलाने के लिए संविधान में उपबध किया गया है।

(क) संघ का यह कर्तव्य है कि वह सुनिश्चित करे कि प्रत्येक राज्य की सरकार संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलती रहे। इसलिए जब राष्ट्रपति का यह समाधान हो जाता है कि किसी राज्य की सरकार संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चल सकती तो वह उद्घोषणा कर सकता है।

(ख) राष्ट्रपति यह उद्घोषणा उस समय भी कर सकता है जब संघ की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हुए दिए गए किन्हीं निर्देशों का अनुपालन करने में या उनके प्रभावी करने में कोई राज्य असफल रहता है।

राष्ट्रपति ऐसी उद्घोषणा द्वारा :–

(क) उस राज्य की कार्यपालिका के या किसी अन्य प्राधिकारी के सभी या कोई कृत्य अपने हाथ में ले सकेगा। केवल उच्च न्यायालय के कृत्य नहीं लिए जा सकेंगे, और।

(ख) यह घोषित कर सकेगा कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तियों का प्रयोग संसद द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन किया जा सकेगा। संक्षेप में ऐसी उद्घोषणा द्वारा संघ न्यायिक कृत्यों को छोड़कर राज्य प्रशासन के सभी कृत्यों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेती है।

केन्द्र–राज्य मतभेदों के निवारण की विधियाँ :– संघीय शासन प्रणाली में पारस्परिक सहयोग होना आवश्यक है। यद्यपि राज्यों को पृथक क्षेत्राधिकारी प्राप्त है तथापि संविधान में निम्नलिखित विषयों पर राज्यों के पारस्परिक सहयोग पर बल दिया गया हैं।

1. **संघीय क्रियाओं, अभिलेखों तथा कार्यवाहियों को मान्यता प्रदान करना :–** अनुच्छेद 261 के अनुसार, भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र संघ की तथा प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं, अभिलेखों तथा न्यायिक कार्यवाहियों को पूरी मान्यता दी जायेगी। इनकी प्राथमिक सिद्ध करने की रीति और शर्तें तथा उनके प्रभाव का निर्धारण संसद द्वारा उपबन्धित रीति के अनुसार होगा। यह भी निर्धारित किया गया है कि भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग के दीवानी न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णय तथा आदेश उस राज्य क्षेत्र के अन्दर सभी स्थानों पर निष्पादित किये जायेंगे।

2. **अन्तर्राज्यीय नदियों या नदी के जल सम्बन्धी विवादों का निर्णयन :–** अनुच्छेद 262 के अनुसार, किसी अन्तर्राज्यिक नदी तथा घाटी के या जलाशयों के प्रयोग, वितरण, विवाद या फरियाद के न्याय निर्णय के बारे में संसद विधि द्वारा व्यवस्था करेगी। ऐसे विवाद के सम्बन्ध में संसद यह निर्णय भी कर सकती है कि सर्वोच्च न्यायालय या अन्य कोई न्यायालय इस सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार का प्रयोग नहीं करेगा।

3. **अन्तर्राज्य परिषद् की व्यवस्था :–** अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत, राज्यों के पारस्परिक सहयोग के लिए एक अन्तर्राज्यीय परिषद् का प्रावधान किया गया है। यदि राष्ट्रपति को प्रतीत होता है कि यह सार्वजनिक हित आवश्यक है तो अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना की जा सकेगी। इस परिषद् का प्रमुख कार्य राज्यों के मध्य विवादों का परीक्षण करना तथा उन पर परामर्श देना है। व्यवहार में अब तक इस परिषद् की स्थापना नहीं की गयी है। प्रशासनिक सुधार आयोग ने अन्तर्राज्य परिषद् की स्थापना का समर्थन किया और कहा कि इससे केन्द्र राज्य सम्बन्ध मजबूत होंगे और प्रशासन के क्षेत्र में सहयोग तथा समन्वय सुनिश्चित किया जा सकेगा। सरकारिया आयोग ने भी अन्तर्राज्य परिषद् की स्थापना का समर्थन किया और कहा कि इस परिषद् को देश की सामाजिक–आर्थिक विकास में अपना महत्तपूर्ण योगदान देना चाहिए। सरकारिया आयोग ने तो राष्ट्रीय

विकास परिषद् को भी पुर्नगठित करते हुए इसी अनुच्छेद के तहत स्थापित करने की सिफारिश की और राष्ट्रीय विकास परिषद् का नाम ''राष्ट्रीय आर्थिक और विकास परिषद्'' करने की सलाह दी।

4. क्षेत्रीय परिषदों का निर्माण :– क्षेत्रीय परिषदों का निर्माण किया जाता है। सम्पूर्ण भारत को छह क्षेत्रों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक क्षेत्रीय परिषद् है। क्षेत्रीय परिषदों के कार्य उन समस्त विषयों से सम्बन्धित होंगे जिनमें क्षेत्र के सभी या कुछ राज्य या संघ और एक या अधिक राज्य रूचि रखते हैं। क्षेत्रीय परिषद् राज्य पुनर्गठन अधिनियम 1956 के खण्ड–21 के तहत स्थापित किए गए हैं। देश के संघीय प्रशासनिक व्यवस्था को सुनिश्चित करने के लिए और केन्द्र राज्य सम्बन्ध को मजबूत बनाने के लिए तथा देश के संतुलित आर्थिक विकास के लिए इन परिषदों का गठन हुआ। इन परिषदों के विशेष उद्देश्य हैं–

(क) वस्था की अनिवार्यता प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् संघीय गृहमंत्री की अध्यक्षता में कार्य करते हैं। प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् में सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्री शामिल रहते हैं। इन क्षेत्रीय परिषदों के कुछ वर्षों बाद तक इनका कार्य संतोषप्रद था परंतु अब कुछ त्रुटियाँ नजर आने लगी है। पहली बात तो यह है कि सभी क्षेत्रीय परिषदें संघीय गृहमंत्री की अध्यक्षता में कार्य करती हैं जबकि गृहमंत्री के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह आवश्यक समय सभी क्षेत्रीय परिषदों को दे सकें। इसमें इन परिषदों की क्षमता और प्रभावशीलता में कमी आती है। यह आरोप भी लगाया जाता है कि क्षेत्रीय परिषदों ने प्रशासनिक तंत्र में पांचवे पहिये का काम करना शुरू कर दिया है जिससे संतुलन को खतरा हो सकता है। फिर भी क्षेत्रीय परिषदें केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को सुधारने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। यदि इन्हें अनुच्छेद 263 के तहत पुर्नगठित किया जाय तथा प्रतिवर्ष कम से कम दो बैठके आयोजित की जाय।

5. अन्तर्राज्यीय व्यापार :– वाणिज्य से सम्बन्धित के प्रावधान के क्रियान्वयन के लिए अनुच्छेद 307 के अनुसार संसद एक प्राधिकारी की नियुक्ति करेगी तथा उसको ऐसी शक्तियाँ और कर्तव्य सौंप सकती है जो वह आवश्यक समझे।

6. नियंत्रण बोर्ड का गठन :– भारतीय संविधान के अनुच्छेद 262 के तहत संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि वह देश में बहने वाली नदियों के जल वितरण, जल उपयोग आदि से सम्बन्धित विवादों को दूर करने के लिए आवश्यक परिषदों का गठन करें। 1656 के अन्तर्राज्यीय विवाद अधिनियम द्वारा अन्तर्राज्यीय नदी जल विवाद को समाप्त करने का प्रयास किया। नदी बोर्ड अधिनियम 1956 द्वारा नदी बोर्ड का गठन किया गया ताकि अन्तर्राज्यीय नदियों के विकास और विनियमन के लिए मार्ग प्रशस्त किया जा सके। बोर्ड के प्रमुख कार्य इस हैं :

(क) किसी भी विशिष्ट नदी या नदी घाटी के विकास और विनियमन के सम्बन्ध में सरकार को सलाह देना।

(ख) सम्बन्धित तनाव (जल बंटवारे सम्बन्धी) को सुलझाना।

(ग) अन्तर्राज्यीय नदियों या नदी–घाटी विकासके लिए स्कीम तैयार करना।

(घ) तैयार किए गये स्कीमों के कार्यान्वयन पर नजर रखना तथा आवश्यक सुधार की सलाह देना।

7. इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे भी विषय हैं जिनका सम्बन्ध यद्यपि दोनों सरकारों से है तथापि जिनका निर्धारण केन्द्रीय सरकार ही करती है। उदाहरण के लिए, निर्वाचन, लेखा परीक्षण, राज्यपाल की नियुक्ति आदि।

10.3 सारांश

भारतीय संविधान निर्माताओं का उद्‌देश्य वास्तव में भारत में विभिन्नता में एकता स्थापित करने के लिए श्रेष्ठ विकल्प का चयन करना था। इस दृष्टि से भारतीय संघ व्यवस्था का स्वरूप एकात्मवाद का दिखाई देता है भारतीय संघ व्यवस्था वास्तव में अपने स्वरूप में संघीय किन्तु भावना में एकात्मक है और भारत एक एकात्मक संघ राज्य की सहायक विशेषताएं लिए हुए है इसलिए भारत का संघ अन्य संघ राज्यों की तुलना में अनोखा है। हमारा संघ एक संविदा नहीं है और न ही स्वशासन एवं स्वतन्त्र राज्यों द्वारा केन्द्र की स्थापना की गयी है। बल्कि केन्द्र के द्वारा स्वायत्त राज्यों की स्थापना की गयी है और राज्यों को कुछ शक्तियां प्रदान की गयी हैं। केन्द्र राज्य सम्बन्धों में सुधार की दृष्टि से अनेक प्रयास होते रहे हैं और होते रहेंगे। केन्द्रीय प्रशासनिक सुधार आयोग, सरकारियां आयोग, द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग आदि ने इस दिशा में महत्वपूर्ण

सुझाव दिए। विगत कुछ वर्षों से हमारे देश में विघटनकारी और पृथकतावादी प्रवृत्तियों के बढ़ जाने के कारण नये राज्यों की मांग राज्यों के विभाजन घुसपैठियों की समस्या आदि अनेको समस्यायें कहीं न कहीं भारत की एकता अखण्डता और शान्ति को प्रभावित कर रहे हैं। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि देश की अखण्डता और एकता को सुदृढ़ बनाये रखने की दिशा में हम केन्द्र राज्य सम्बन्धों की समस्या का शान्तिपूर्ण एवं गम्भीरता से विचार करें और सामन्जस्य के द्वारा समस्या का समाधान ढूढ़ने का प्रयास करें।

10.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. **भारतीय प्रशासन** :– प्रो0 मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेशन दिल्ली।
2. **भारतीय प्रशासन** :– बी0 सुब्रह्यण्यम, प्रकाशन विभाग भारत सरकार।
3. **भारतीय प्रशासन** :– श्री राम माहेश्वरी, ओरिएण्ट लॉन्गमैन नई दिल्ली।
4. **भारतीय प्रशासन** :– डॉ0 अवस्थी एण्ड अवस्थी, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

10.5 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

1. केन्द्र राज्य संबंध में विवाद का कारण रहा है–
   (a) राष्ट्रपति का पद (b) प्रधानमन्त्री का पद
   (c) राज्यपाल का पद (d) मुख्यमन्त्री का पद
2. रेलवे, भारतीय संविधान में कौन–सी सूची में आता है?
   (a) समवर्ती सूची (b) केन्द्रीय सूची
   (c) राज्य सूची (d) विशिष्ट सूची
3. निम्नलिखित में से कौन सा विषय समवर्ती सूची में है?
   (a) कृषि (b) शिक्षा
   (c) पुलिस (d) रक्षा

लघुउत्तरीय प्रश्न :–

1. केन्द्र–राज्य संबंधो का क्या अर्थ है?
2. संघ व राज्यों के बीच विधायी संबंधो की व्याख्या करें।
3. केन्द्र राज्य संबंधो पर गठित आयोग और समितियाँ कौन–कौन सी है?
4. संघवाद से क्या तात्पर्य है?

दीर्घउत्तरीय प्रश्न :–

1. भारतीय संविधान में राज्य सरकार की अपेक्षा केन्द्र को अधिक शक्तियाँ प्राप्त है, स्पष्ट करें।
2. केन्द्र और राज्य सम्बन्धों के बीच प्रमुख बाधाएं क्या है? व्याख्या करें

इकाई–11 विकेन्द्रीकरण विवाद

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 विकेन्द्रीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

11.3 विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता एवं महत्व

11.4 विकेन्द्रीकरण की विशेषताएं

11.5 विकेन्द्रीकरण विवाद एवं उसके कारण

11.6 विकेन्द्रीकरण व्यवस्था में विवादों को कम करने हेतु सुझाव

11.7 सारांश

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

- विकेन्द्रीकरण का अर्थ समझ सकेंगें।
- विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता जान सकेंगे
- विकन्द्रीकरण का महत्व समझ सकेंगें
- विकेन्द्रीकरण विवाद क्या है समझ सकेंगें।

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण राज्य के साधनों और कार्यों पर अधिकार केन्द्र के निचले स्तरों पर स्थानांतरित करने की प्रक्रिया है ताकि शासन में अधिक से अधिक प्रत्यक्ष रूप से नागरिकों की भागीदारी को प्रोत्साहित किया जा सके। पंचायतीराज संस्थाएं हमारे लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को शक्तिशाली आधार प्रदान करती है लोगों को लोकतंत्र में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करती है जो कि एक स्वस्थ लोकतंत्र के लिए नितांत आवश्यक है। ये ऐसे विषय है जो विकेन्द्रीकरण सरकारों के मध्य विवाद के कारण भी बनते हैं।

लोक तांत्रिक विकन्द्रीकरण का अर्थ है शासन सत्ता को एक जगह पर केन्द्रित करने के बजाय उसको स्थानीय स्तर के शासन में विभाजित किया जाये ताकि आम जनमानस की सत्ता में भागीदारी सुनिश्चित हो सके तथा वे अपनी आवश्यकता एवं हित के अनुसार शासन संचालन में अपनी अहम भूमिका अदा कर सकें। स्वतंत्रता के बाद लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की आवधारणा को मूर्त रूप देने के लिये 73,वाँ एवं 74वाँ संविधान संशोधन करके ग्रामीण एवं नगरीय स्थानीय स्वशासन की स्थापना की गयी।

भारत में स्थानीय स्वशासन के जनक भारत के गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस आयरलैण्ड के वायसराय थे। इसके बाद महात्मागाँधी ने स्थानीय स्वशासन की परिकल्पना प्रस्तुत की थी। जिसे बाद में संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया।

11.1 प्रस्तावना

11.2 विकन्द्रीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

भारत सरकार ने ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों का सुशासन और विकास के लिये लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा प्रस्तुत की।देश के लोगों का स्तर ऊँचा उठाने के लिये तथा देश के सतत विकास के लिये शासन सत्ता के कुछ अधिकार तथा संसाधनों के प्रयोग का अधिकार केन्द्र सरकार राज्य सरकार से लेकर स्थानीय सरकार को दे दिया जाता है। राज्य सरकार स्थानीय सरकारों को जनता से धन इकट्ठा करने का अधिकार प्रदान नही करती है बल्कि उन्हे धन देती है कर का प्रबंध करती है। शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिये राज्य कर्मचारी भी उपलब्ध कराती है।

स्थानीय सरकार जिसमें पंचायते और नगर पालिकाएं शामिल है। यह राज्य का विषय क्षेत्र है। कुछ हद तक राज्यों के विवेक के आधार पर सत्ता के प्रयोग के अधिकार पंचायतों और नगर पालिकाओं को हस्तांतरित कर दिये गये है।

11.3 विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता एवं महत्व

क. विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता

जमीनी स्तर पर ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों के सुशासन और विकास के लिये लोक तांत्रिक विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता महसूस की गई। इसलिये भारत सरकार ने एक प्रयोग के तौर पर सर्वप्रथम सामुदायिक विकास कार्यक्रम ग्रामीण लोगों के समग्र विकास के उद्देश्य से 2 अक्टूबर 1952 को राजस्थान के नागौर जिले से प्रारम्भ किया। सामुदायिक विकास कार्यक्रम में कृषि और संबंधित मामलों, सिचाई, संचार, शिक्षा स्वास्थ्य पूरक रोजगार, आवास, प्रशिक्षण आदि का सुधार करने का लक्ष्य रखा गया था। यहां जिला स्तर पर प्रत्येक गतिविधि के लिये अधिकारी नियुक्त किये गये हैं। जो ग्राम स्तर तक कार्यक्रम के क्रियान्वयन और मूल्यांकन के लिये योजना बनाते हैं। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के मुख्य उद्देश्य है।

1. कृषि उत्पादन बढ़ाना
2. ग्रामीण बेरोजगारी को कम करना
3. गाँवों में सड़क पानी, बिजली जैसे आधारभूत सुविधाओं को सुदृढ़ करना।
4. गॉवों में परिवहन एवं संचार के विकास का विकास करना।
5. प्राथमिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा क्षेत्रों में सुधार करना आदि।

स्थानीय स्तर पर सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सफलता से प्रेरित होकर भारत सरकार ने स्थानीय स्वशासन को संवैधानिक मान्यता देकर पूरे देश में लागू करने की कार्य योजना बनाया। इसे मूर्त रूप प्रदान करने के लिये 1992 में 73वाँ और 74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित करके स्थानीय सरकारों को स्थानीय स्तर से सम्बन्धित विधियाँ बनाने एवं कार्यान्वित करने के लिये, केन्द्र सरकार ने सत्ता का हस्तांतरण किया। जोकि यह सत्ता के विकेन्द्रीकरण की दिशा में बहुत ही महत्वपूर्ण कदम था। 73वें संविधान संशोधन अधिनियम पंचायती राज संस्थाओं की शुरूआत की जो कि गाँधी जी के स्थानीय स्वशासन की परिकल्पना को साकार किया गया। पंचायती राज संस्थाएं ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिये जिम्मेदार हैं। जबकि 74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम शहरी क्षेत्रों के विकास के लिये उत्तरदायी है। जोकि नगर निकायों के पास आर्थिक विकास की योजना बनाने और योजनाओं के कार्यान्वयन की शक्ति और अधिकार प्राप्त है।

ख. विकेन्द्रीकरण का महत्व

वर्तमान परिदृश्य में जन आकांक्षाओं की उभरती हुयी प्रवृत्तियाँ एवं लोक कल्याणकारी राज्यों की मान्यताओं को मूर्तरूप प्रदान करने के लिये लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का महत्व बढ जाता है। स्थानीय शासन के महत्व पर प्रकाश डालते हुये हेराल्ड जे लास्की ने कहा है। ''हम लोकतांत्रिक शासन से पूरा लाभ उस समय तक नहीं उठा सकते जब तक कि हम यह न मान लें कि सभी केन्द्रीय समस्याएं नहीं है और उन समस्याओं की उन्हीं लोगों द्वारा हल किया जाना चाहिये जो उन समस्याओं से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं।

जब कोई जनसमूह किसी स्थान विशेष पर मिलजुल कर सामुदायिक जीवन को प्रारम्भ करता है। तो पारस्परिक

सम्बन्धों के निरूपण से बहुत सी समस्याएं उत्पन्न हो जाती है जैसे – बिजली पानी सड़क संचार स्वास्थ्य, आवास और स्वच्छता आदि इन सभी समस्याओं को स्वशासन द्वारा नियम कानून बनाकर सुलझाया जाता है।

एक ओर स्थानीय स्वशासन का उद्देश्य मनुष्य के जीवन को बेहतर बनाना है। दूसरी ओर नागरिकों को प्रजातांत्रिक मूल्यों के प्रति जागरूक करके शासन व्यवस्थाओं के साथ सामंजस्य बनाते हुये सतत् विकास के पथ पर अग्रसर करना। स्थानीय स्वशासन की भूमिका स्थानीय स्तर पर बढ़ती ही जा रही है। केन्द्र एवं प्रान्तीय सरकारों पर शासन व्यवस्था का भार कम हो रहा है। इसलिए स्थानीय स्वशासन का महत्व बढ़ता जा रहा है।

स्थानीय स्वशासन के महत्व को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के तहत समझ सकते हैं, जैसे –

1. स्थानीय विषयों का कुशलतापूर्वक प्रबंधन करना
2. केन्द्र एवं राज्य सरकारों पर भार कम होना।
3. सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति जागरूक करना
4. राजनीतिक प्रशिक्षण एवं राष्ट्र के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना
5. नौकरशाही को नियंत्रित करना।
6. खर्चों में मितव्ययिता लाना
7. शासन में जनता की भागीदारी सुनिश्चित करना
8. नागरिकों में सभी गुणों का विकास करना
9. सुविधाओं को निचले स्तर तक पहुँचाना
10. नीतिनिर्माण में सहायता करना आदि।

अतः स्पष्ट है कि स्थानीय शासन के कार्यों में लगातार वृद्धि होने से इसका महत्व बढ़ता ही जा रहा है जैसे–जैसे लोग राजनीतिक दृष्टि से जागरूक होते जा रहे हैं वैसे–वैसे उत्तरदायित्व और सहभागिता पर आधारित शासन व्यवस्था, का स्तर बढ़ता जा रहा है। भविष्य में इसके कार्यक्षेत्रों में वृद्धि होनेसे लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की ओर अधिक बल मिलेगा।

11.4 विकेन्द्रीकरण की विशेषताएं

विकेन्द्रीकरण की निम्नलिखित विशेषताएं है।

1. स्थानीय निकायों के सभी प्रतिनिधि सीधे जनता द्वारा चुने जाते हैं। ग्राम पंचायत के अध्यक्ष का चुनाव राज्य द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के तहत सम्पन्न कराया जाता है। ये चुनाव राजनीतिक नहीं है।

2. मध्यवर्ती और जिला स्तर पर प्रमुखों का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। जबकि शहरी स्थानीय सरकारों के प्रमुखों का चुनाव राज्य सरकार की निर्धारित प्रक्रिया के तहत सम्पन्न कराया जाता है।

3. स्थानीय निकायों के चुनाव सम्पन्न कराने के लिये सम्बन्धित राज्य का राज्यपाल राज्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति करता है। पाँच वर्ष की अवधि के लिये नियुक्त किया जाता है।

4. प्रत्येक 5 वर्ष के लिये स्थानीय सरकारों के सभी स्तरों के लिये चुनाव आयोजित किये जाते हैं। किन्तु आंतरिक समायोजन राज्य विधान मण्डलों द्वारा किया जाता है। वे स्थानीय निकायों के लिये उम्मीदवारों के लिये अन्य योग्यताएं नियम शर्तें भी निर्धारित करते हैं।

5. पी0वी0 नरसिम्हाराव के प्रधान मंत्रित्व काल में 1992 में 73वें और 74 संवैधानिक संशोधन को मंजूरी दी गई। ग्रामीण स्थानीय निकाय (24 अप्रैल 1993) एवं शहरी स्थानीय निकाय (1 जून 1993) को अधिनियम को पूरे भारत में लागू कर दिया गया।

6. ग्रामीण क्षेत्रों में त्रिस्तरीय प्रणाली है ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायतें, मध्यवर्ती स्तर पर ब्लाक का खण्ड पंचायतें जिला स्तर पर परिषदें या जिला पंचायतें।

7. शहरी क्षेत्रों में त्रिस्तरीय प्रणाली में प्रथम स्तर नगर पंचायतें, द्वितीय स्तर पर नगर परिषदें और तृतीय स्तर पर नगर निगम शामिल है।

11.5 विकेन्द्रीकरण विवाद एवं उसके कारण

(क) विकेन्द्रीकरण विवाद

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण व्यवस्था में विवाद एक प्रमुख समस्या है। जो भारत की एकता अखण्डता को प्रभावित करता है। जिससे देश के अराजक तत्वों को बढ़ावा मिलता है जिससे हमारे देश शांति व्यवस्था एवं विकास को प्रभावित करता है। विकेन्द्रकरण व्यवस्था में धन का अभाव भी विवाद को जन्म दे रहा है। जो देश की सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति को चुनौती दे रहा है।

(ख) विकेन्द्रीकरण विवाद के कारण

लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के अन्तर्गत कई समस्याएँ हैं। जिसके कारण स्थानीय स्वशासन के विवाद की स्थितियों का सामना करना पड़ता है। विवादों के निम्नलिखित कारण है। जैसे–

1. स्थानीय सरकारों को राज्य सरकारों से दिया जाने वाला धन अपर्याप्त होता है जिसके कारण स्थानीय स्वशासन को मूल भूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये एवं अपने लक्ष्यों को पूरा करने के लिये अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

2. स्थानीय सरकारों को अपने द्वारा लगाये जाने वाले कर और उपयोगकर्ता शुल्कों को बढ़ाने के लिये निवेश की क्षमता कम होती है। कुछ ग्राम पंचायतों के पास अपना स्वयं का भवन नहीं है इसलिये वे स्कूलों, आँगनबाडी केन्द्रों आदि को आयोग में लेना पड़ता है।

3. कर्मचारियों की कमी तथा मूलभूत सुविधाओं की कमी के कारण स्थानी निकायों के काम काज में वाधक बनती है।

4. पंचायतों और नगर पालिकाओं की वित्तीय शक्तियों का कुशलतापूर्वक उपयोग नहीं हो पाता है। ग्राम पंचायते बाजार मेला, सम्पत्ति और व्यापार पर कर बहुत कम लगाती है। इसलिये स्थानीय निकायों के आय के स्रोत कम पड़ जाते हैं तथा राज्यों से भी पर्याप्त अनुदान नहीं मिल पाता है। इसलिये विकास कार्यों को गति नही मिल पाती है।

5. अक्सर देखा जाता है चुनावों को समय पर सम्पन्न न करवाने से लेकर जिला योजना समितियों के गठन में विफलता के कारण स्थानीय निकायों में विकास कार्यों में बाधाएं उत्पन्न होती है।

6. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया केन्द्र को कमजोर बना सकती है। राष्ट्र की एकता अखण्डता के लक्ष्यहासिल करने में बांधक बन सकती है क्योंकि पहले ही देश में अलगाववादी उग्रवादी शक्तियां देश की एक और अखण्डता को प्रमावित करने का पुरजोर प्रयास कर रही है।

11.6 विकेन्द्रीकरण व्यवस्था में विवादों को कम करने हेतु सुझाव

विकेन्द्रीकरण व्यवस्था में विवादों को कम करने हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत हैं जैसे–

1. शहरी क्षेत्रों तथा ग्रामसभाओं में वार्ड समितियों को अधिक क्रियाशील किये जाने की आवश्यकता है ताकि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को बल मिल सके।

2. मानव संसाधन के माध्यम से स्थानीय सरकारों के संरचनात्मक ढाँचे को अत्यधिक सुदृढ बनाया जाये ताकि पंचायतों एवं नगरों के कामकाज को गति मिले। इसके अतिरिक्त कुशलतम कर्मचारियों की भर्ती एवं नियुक्ति की दिशा में भी समुचित प्रयास किये जायें।

3. केन्द्र एवं राज्य सरकारों की तरह ही स्थानीय सरकारों के लिये समुचित बजट का प्रावधान होना चाहिए जिसके माध्यम से जनकल्याण के कार्यक्रमों को क्रियान्वित कर सके।

4. स्थानीय सरकारों में भाग लेने वालों को उचित प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये तथा जनकल्याण की भावना

को प्रेरित किया जाना चाहिये ताकि स्थानीय निकायों के सदस्य अपना स्वार्थ हित त्यागकर जनकल्याण एवं जनसेवा भाव से कार्य कर सके।

5. राज्य सरकार द्वारा प्रतिवर्ष स्थानीय सरकारों से प्रगति रिपोर्ट मंगानी चाहिये तथा उसी के आधार पर सही ढंग से कार्य करने वाले सदस्यों को प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया जाये और उनका समुचित उत्तरदायित्व सुनिश्चित किया जाये।

6. स्थानीय निकायों का निर्वाचन निर्धारित समय पर राज्य चुनाव आयोग द्वारा कराया जाये तथा स्थानीय निकायों से राजनैतिक दलों के हस्तक्षेप को समाप्त किया जाये। इसके लिये राज्य चुनाव आयोग को सरल कदम उठाना चाहिये ताकि निष्पक्ष ढंग से स्थानीय निकायों के चुनाव सम्पन्न कराया जाना संभव हो सके।

7. स्थानीय निकायों में अधिक से अधिक महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित की जाये तथा उन्हे स्वतंत्रतापूर्वक बिना हस्तक्षेप के कार्य करने को प्रेरित किया जाये। जिससे महिलाएं मानसिक एवं सामाजिक रूप से अधिक से अधिक सशक्त बने। ताकि वे स्वतंत्रत एवं निष्पक्ष रूप से निर्णय ले सके तथा आत्मनिर्भर बन सके।

11.7 सारांश

स्थानीय स्वशासन की प्रणाली को इसलिये अपनाया गया है ताकि स्थानीय स्तर पर लोगों की भागीदारी को सुनिश्चित किया जा सके तथा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को बल मिले। स्थानीय शासन स्थानीय स्तर पर लोगों की भागीदारी एवं जवाबदेही दोनो ही सुनिश्चित करता है। लोकतंत्र की सफलता सत्ता के विकेन्द्रीकरण के माध्यम से सुनिश्चित करने का सफल प्रयास किया गया है। कई मुद्दों पर विकेन्द्रीकरण के विवाद भी रहते है जैसे वित्तीय संसाधनों की कमी, निर्वाचन से सम्बन्धित समस्यााएं आदि परन्तु इसका आशय यह नहीं लगाया जाना चाहिये कि भारत में विकेन्द्रीकरण व्यवस्था सफल नहीं है। यह व्यवस्था लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को बढावा देती है तथा निचले स्तर के आम जनमानस एवं महिलाओं को आत्म निर्भर बनाने का यह एक माध्यम है इसलिए यह कहा जा सकता है कि लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की दिशा में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था सरकार का एक सफल प्रयास है। स्थानीय स्वशासन अर्थात विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था में स्थानीय लोगों द्वारा स्थानीय मामलों का प्रबंधन किया जाता है तथा इससे स्थानीय लोगों को सरकार चलाने का प्रशिक्षण भी प्राप्त होता है। जो लोकतंत्र को सफल बनाने की दिशा में विकेन्द्रीकरण अच्छा एवं सराहनीय प्रयास है।

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न –

(क) निम्न प्रश्नों के उत्तर लिखिये।

1. विकेन्द्रीरण का अर्थ एवं परिभाषा लिखो।

2. विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता बताइए।

3. विकेन्द्रीकरण का महत्व स्पष्ट कीजिये।

4. विकेन्द्रीकरण की विशेषताएँ लिखिये।

विकेन्द्रकरण के विवाद के कारण लिखिये।

5. विकेन्द्रीकरण व्यवस्था में विवादों को कम करने हेतु उपाय सुझाइये।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

1. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को लागू किया गया।

(a) 1992 में (b) 1994 में

(c) 1996 में (d) 2005 में

2. विकेन्द्रीकरण के विवादों का कारण है–

(a) धन का अभाव (b) धन की अधिकता

(C) दोनों (d) दोनों में से कोई नहीं

3. विकेन्द्रीकरण से राजनैतिक प्रशिक्षण मिलता है।

(a) जनता को (b) समाज को

(d) दोनों को (d) किसी को नहीं

11.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. 1970 ब्यूरोक्रेसी मैकमिलन लंदन
2. मार्कसिस्ट इण्टरप्रिटेशन एडमिनिस्ट्रेशन
3. डा० विप्लव भारतीय शासन एवं राजनीति संदर्भ

इकाई–12 राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारियों के बीच सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 राजनीतिक कार्यकारी का अर्थ एवं महत्व

12.3 स्थायी कार्यकारी का अर्थ एवं महत्व

12.4 राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारी की प्रमुख विशेषताएँ

12.5 राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारी के बीच अन्तर्सम्बन्ध

12.6 सारांश

12.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.0 उद्देश्य

1. राजनीतिक कार्यकारी को समझना।
2. स्थाई कार्यकारी को समझना।
3. राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारी के महत्व को समझना।
4. राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारी के सम्बन्धों को समझना।

12.1 प्रस्तावना

संसद एक राजनीतिक सामूहिक कार्यकारी निकाय का उदाहरण है। राजनीतिक कार्यकारी निकाय के सभी सदस्य सामूहिक रूप से निर्णय देते हैं। जो कि निर्णय देते समय सभी सदस्य समान रूप से अपनी शक्तियों एवं अधिकारों का प्रयोग करते हैं। तथा अपने निर्णयों के लिए सामूहिक रूप से जिम्मेदार रहते हैं। राजनीतिक कार्यकारियों को जनता एक निश्चित अवधि के लिये चुनती है। वे ही महत्वपूर्ण निर्णय लेते हैं तथा स्थायी कार्यकारी की तुलना में ज्यादा अधिकार रखते हैं एवं अधिक शक्तिशाली होते हैं। दूसरी तरफ स्थायी कार्यकारी अधिकारियों को समय–समय पर निश्चित समयावधि पर कार्यों, योजनाओं को क्रियान्वित कराने का दायित्व सौंपा जाता है।

12.2. राजनीतिक कार्यकारी का अर्थ एवं महत्व

राजनीतिक कार्यकारी का अर्थ –

राजनीतिक कार्यकारी वह समूह है जिसे जनता के प्रतिनिधि के रूप में जाना जाता है। जो एक निश्चित कार्यावधि के लिये जनता द्वारा चुने जाते हैं। राजनीतिक कार्यकारी या कार्यपालिका संसद के माध्यम से देश के लिये नीतियों की रूपरेखा पर निर्णय लेते हैं राजनीति से सम्बन्धित फैसले वे ही लेते हैं। राजनीतिक कार्यकारी के पास अधिकार है।

राजनीतिक कार्यकारी का महत्व –

देश के शासन के संचालन में राजनीतिक कार्यकारी की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राजनीतिक अधिकारी सरकार के कामकाज में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। वे सरकार के समस्त कार्यों एव नीतियों के लिये जिम्मेदार हैं। राजनीतिक कार्यपालिका नीतियों बनाने के लिये जनता की ओर से निर्णय लेती है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक कार्यपालिका विदेश नीति और घरेलू नीति पर निर्णय लेती हैं। घरेलू नीतियों के अन्तर्गत

कर प्रणालियों में बदलाव न्यूनतम वेतन व्यापार, श्रम, शिक्षा आदि से सम्बन्धित विदेशों से व्यापार में वृद्धि, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि, समझौते आदि से सम्बन्धित की **राजनीतिक** कार्यकारी महत्वपूर्ण निर्णय लेती हैं। जिनका किसी देश की अर्थव्यवस्था या सामाजिक विकास पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक कार्यपालिका राष्ट्र के नैतिक मूल्यों जैसे स्वतंत्रता, समानता भाईचारा, न्याय को स्थापित करने के लिये जिम्मेदार है। वे आम जन मानस के लिये स्कूल, कॉलेज अस्पताल सड़क बिजली, पानी, वैकिंग जैसी आधारभूत सुविधाओं की भी व्यवस्था करते हैं। इसलिये राजनीतिक कार्यकारी का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है।

12.3 स्थायी कार्यकारी का अर्थ एवं महत्व –

स्थायी कार्यकारी का अर्थ –

स्थायी कार्यकारी या सिविल सेवक एक महत्वपूर्ण प्रशासनिक संगठन है। एक विशिष्ट राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्थायी कार्यकारी राजनीतिक निर्णयों को कार्यरूप में परिवर्तित करने का एक साधन है। इसके द्वारा सरकार के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। इसका सम्बन्ध नागरिकों की समस्याओं का समाधान करने से हैं। स्थायी कार्यकारी प्रशासन एक सुनिश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये परस्पर सहयोगी संगठन है। जो नागरिकों की सेवा के लिये सदैव तत्पर रहते हैं। स्थायी कार्यकारी या प्रशासन विश्वविद्यालयों, चिकित्सालयों, व्यापारिक क्षेत्रों तथा विभिन्न सरकारी विभागों में दिखाई देता है। यह राजनीतिक प्रक्रिया का भी विशिष्ट भाग है। क्योंकि प्रशासन राजनीतिज्ञों को नीति–निर्माण में भी अपनी सलाहकारी भूमिका अदा करते हैं।

स्थायी कार्यकारी का महत्व –

स्थायी कार्यकारी सिविल सेवक होते हैं। जो पूर्ण कालिक सेवक होते हैं। जिनका प्रमुख कार्य है देश में शांति व्यवस्था स्थापित करना तथा नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना। वर्तमान समय में नागरिकों की भी महत्वाकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं में वृद्धि के कारण स्थायी कार्यकारी का दायित्व बढ़ गया है। इन्हें कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। देश के विकास को गति प्रदान करने के लिये स्थायी कार्यकारियों को ईमानदारी पूर्वक अपने कर्तव्यों का निर्वहन करना होता है। राज्य का स्वरूप लोक कल्याणकारी है तथा जनता के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिये सरकार द्वारा बहुआयामी योजनाएं चलायी जाती है। उन योजनाओं को निष्पक्षतापूर्ण एवं समुचित ढँग से लागू करने का कार्य लोक सेवकों द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

योजनाओं की सफलता प्रशासन की कार्यकुशलता एवं निष्पक्षता पर निर्भर करती है। वास्तव में व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके जीवन में सम्पादित होने वाले समस्त कार्यों में स्थायी कार्यकारी या प्रशासन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह सामाजिक परिवर्तन का भी प्रमुख साधन बन गया है। विकासशील देशों की परम्परागत दिनचर्या, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता, कुरीतियाँ आदि में परिवर्तन लाने की आवश्यकता होती है। जिसके लिये शिक्षा, राजनीतिक चेतना आर्थिक विकास कानून आदि के लिये प्रशासन सशक्त भूमिका की जरूरत होती है।

सामाजिक व्यवस्था की एकता तथा स्थायित्व को बनाये रखने के लिये, हमारे देश में गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, शोषण, अपराध छुआछूत सामाजिक असमानता को समाप्त करने की लिये सरकार द्वारा निर्मित सामाजिक नीतियों, एवं सामाजिक कानूनों को सही ढंग से क्रियान्वित करने की जिम्मेदारी स्थायी कार्यकारी की ही होती है स्थायी कार्यकारी की भूमिका नीतियों के क्रियान्वयन तक ही सीमित नहीं है बल्कि नीतियों को बनाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राजनीतिक कार्यकारियों को स्थायी कार्यकारी नीति–निर्माण में अपने महत्वपूर्ण परामर्श से अवगत कराते हैं। इसलिये स्थायी कार्यकारियों का महत्वपूर्ण स्थान है।

12.4 राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारी की प्रमुख विशेषताएं

राजनीतिक एवं **स्थायी** कार्यकारी की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित है। जैसे–

1. राजनीतिक कार्यकारी संगठन के सदस्यों के निर्वाचन में भाग लेने के लिये उनमें निम्नलिखित योग्यताओं की अपेक्षा की गयी है जैसे– वह भारत का नागरिक हो लोकसभा के सदस्य के लिए न्यूनतम 25 वर्ष तथा राज्य सभा के सदस्य के लिए न्यूनतम आयु 30 वर्ष निर्धारित की गई है। तथा निर्वाचन के लिये अधिकतम आयु सीमा राजनीतिक कार्यकारी के लिये निर्धारित की गई है। किन्तु स्थाई कार्यकारी यूपीएससी में

सामान्य आवेदन करने के लिये न्यूनतम आयु 21 वर्ष है। तथा अधिकतम आयु 32 वर्ष है।

2. राजनीतिक कार्यकारी संगठन के सदस्य राजनैतिक दलों के माध्यम से निर्वाचन में भाग लेते है। जनता द्वारा उन्हे 5 वर्ष के लिए निर्वाचित करती है बहुमत दल के द्वारा सरकार का गठन तथा संचालन किया जाता है। जिसका कार्यकाल 5 वर्ष के लिये होता है। जबकि स्थायी कार्यकारी अर्थात लोक सेवक संघ एवं राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित भर्ती परीक्षा पास करने के उपरान्त राज्यों में स्थाई तैनाती प्रदान की जाती है तथा एक निश्चित आयु सीमा (62 वर्ष) तक अपने पद पर रहते हैं।

3. राजनीतिक कार्यकारी राज्य की नीतियों और रूपरेखा पर निर्णय लेती है। इन्हे जनता के प्रतिनिधि के रूप में भी जाना जाता है। राजनीतिक अधिकारी वित्त, शिक्षा स्वास्थ्य सड़क बिजली पानी, औद्योगिक विकास डाक तार बैंकिग, विदेशीनीति, घरेलू नीति न्यूनतम वेतन, जनकल्याण कार्यक्रम, महिला सशक्तिकरण एवं राष्ट्र उन्यन से सम्बन्धित समस्त कार्यक्रमों की रूपरेखा निर्धारित करते है जिसमें सरकारी तंत्र अर्थात लोकसेवक सलाहकारी भूमिका निभाते है। तथा सरकार की नीतियों को सफल बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

4. राजनीतिक कार्यकारी समूह देश में होने वाली आपदायें जैसे बाढ़,सूखा, अकाल आदि से निपटने के लिये नीतियों का निर्माण करते हैं तथा अति पिछडे गरीबों को खाद्यान्न उपलब्ध कराते हैं। ये सभी प्रकार की सरकारी योजनाओं को स्थायी कार्यकारी समूह द्वारा निष्पक्ष ढंग से लागू कराया जाता है।

5. राजनीतिक अधिकारियों के पास अधिकार अधिक होते हैं, किन्तु स्थायी कार्यकारियों के पास जिम्मेदारियां अधिक होती हैं। राजनीतिक कार्यकारिणी को जनता द्वारा निश्चित अवधि के लिये चुना जाता है। स्थायी कार्यकारिणी को राज्य की सेवा के लिए संवैधानिक एवं अधिकारित तंत्र के तहत पूर्णकालिक स्थायी नियुक्ति प्रदान की जाती है और उन्हें सेवा के लिये निश्चित भुगतान भी किया जाता है।

राजनीतिक कार्यकारी देशहित में नीतियों का निर्माण करते हैं। देश की अखण्डता को प्रभावित करने वाले अराजक तत्वों के विरूद्ध कड़ी कार्यवाही रखने हेतु कानूनों का निर्माण करते हैं। स्थायी कार्यकारी कानूनों के पालन हेतु आम जनमानस को प्रेरित करते हैं। ताकि देश में शांति व्यवस्था को बढ़ावा मिले।

12.5 राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारी के बीच अंतर्सम्बंध

राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारी के बीच अंतर्सम्बंधों को निम्न तथ्यों से स्पष्ट किया जा सकता है–

1. राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारी संगठन एक दूसरे के पूरक हैं अर्थात एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। देश के विकास के लिये राजनीतिक कार्यकारी द्वारा महत्वपूर्ण नीतियाँ बनाई जाती हैं जिसका क्रियान्वयन स्थायी कार्यकारी द्वारा सफलतापूर्वक किया जाता है। स्थायी कार्यकारी का प्रमुख कार्य देश में शांति व्यवस्था की स्थापना करना तथा नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना।

2. राजनीतिक कार्यकारिणी राज्य की नीतियों और रूपरेखा पर निर्णय लेती है। इन्हें देश की जनता प्रतिनिधि के रूप में चुनकर संसद में भेजती है। ये राजनीतिक अधिकारी वित्त, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे अपने क्षेत्र में निर्णय लेते हैं। किन्तु नीतियों का संचालन स्थायी कार्यकारी द्वारा सम्पन्न कराया जाता है।

3. राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप चाहे अध्यक्षीय शासन प्रणाली हो या या संसदीय शासन व्यवस्था प्रणाली हो स्थायी कार्यकारी शासन का अनिवार्य अंग होती है।

4. वर्तमान समय में राज्य का स्वरूप कल्याणकारी है, तथा जनता के उत्थान के लिये राजनीतिक कार्यकारी द्वारा बहमुखी योजनाओं को संचालित किया जाता है। योजनाओं की सफलता प्रशासन की कार्यकुशलता एवं निष्पक्षता पर निर्भर करती है

5. विकासशील देशों की परम्परागत जीवन शैली, अंधविश्वास रूढ़िवादी कुरीतियाँ, अशिक्षा जैसी समस्याओं को समाप्त करके, शिक्षा राजनीतिक चेतना आर्थिक एवं सामाजिक विकास की सफलता के लिये नीतियाँ बनाने का

दायित्व राजनीतिक कार्यकारी पर ही होता है। तथा जनता के बीच सरकार की नीतियों का निष्पक्ष ढंग से क्रियान्वयन करने का दायित्व स्थायी कार्यकारी का होता है। इसलिये राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारी एक दूसरे के पूरक हैं।

6. सामाज में व्याप्त विकृतियाँ जैसे– गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, शोषण, महिला अत्याचार, बाल अपराध, दहेज हत्या आदि समस्याएं दूर करने के लिये सरकार द्वारा निर्मित सामाजिक नीतियों एवं सामाजिक कानूनों के द्वारा ही संभव हो सकता है। तथा इसे प्रभावी ढंग लागू करने में प्रशासन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

12.6 सारांश

अतः स्पष्ट है कि नीतियों के निर्माण की औपचारिक जिम्मेदारी भले ही राजनीतिक कार्यकारियों की है। किन्तु नीतियों का सफल संचालन स्थायी कार्यकारी संगठन के बिना संभव नहीं है। इसलिये सरकार के कार्यों के सफल संचालन के लिये स्थायी कार्यकारी अर्थात लोकसेवकों का सहयोग नितांत आवश्यक है। प्रशासन सरकार के हाथ पैर है। सरकार की सफलता प्रशासन की कार्यकुशलता पर निर्भर करती है।

भूमंडलीकरण उदारीकरण औद्योगीकरण के दौर में स्थायी कार्यकारी की भूमिका सशक्त रूप से उभरकर सामने आयी है। क्योंकि पूँजीवादी युग में समस्त दायित्व पूँजीपतियों के हाथ में दे देने से जनता का शोषण होगा, उनका कल्याण नहीं होगा। क्योंकि उद्योगपति स्वहित की भावना से उत्पादन एवं वितरण कार्य करते है न कि जनकल्याण के लिये। इसलिये जो शोषित वंचित वर्ग है उनके उत्थान के लिये सरकार को नीति निर्माण की विशेष आवश्यकता है। तथा उसे मूर्त रूप देने अर्थात जनता तक योजनाओं का लाभ पहुँचाने के लिये स्थायी कार्यकारी की सशक्त भूमिका की जरूरत हैं। देश को विकास की दौड में आगे ले जाने में राजनीतिक कार्यकारी संगठन का महतवपूर्ण योगदान होता है किन्तु सरकार के समस्त कार्यक्रमों को सफल बनाने में स्थायी कार्यकारी की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है। इसलिये राजनीतिक कार्यकारी संगठन एवं स्थायी कार्यकारी संगठन एक दूसरे के पूरक माने जाते है।

12.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

(क) निम्न प्रश्नों के उत्तर लिखिये।

1. राजनीतिक कार्यकारी का अर्थ एवं महत्व स्पष्ट कीजिये।
2. राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारी के बीच अन्तर्सम्बन्ध बताइये।
3. राजनीतिक एवं स्थायी कार्यकारी की प्रमुख विशेषताएं बताइये।

(ख) बहुविकल्पीय प्रश्न

1. पाँच वर्ष के लिये चुने जाते हैं–
   (a) राजनीतिक कार्यकारी
   (b) स्थायी कार्यकारी
   (c) दोनों में से कोई नहीं
2. नीति–निर्माण करते हैं–
   (a) स्थायी कार्यकारी
   (b) राजनीतिक कार्यकारी
   (c) दोनों में से कोई नहीं

3. वर्तमान में राज्य का स्वरूप है–

   (a) कल्याणकारी

   (b) शोषणकारी

   (c) पूंजीवादी

   (d) कोई नहीं

12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. 1970 ब्यूरोक्रेसी मैकमिलन लंदन।
2. मार्क्सिस्ट इंटरप्रिटेशन एडमिनिस्ट्रेशन।
3. डा. विप्लव भारतीय शासन एवम राजनीति संदर्भ पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स।

इकाई–13 दबाव समूह

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 दबाव समूह

13.3 व्यापारिक समूह

13.4 सारांश

13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.6 बोध प्रश्न

13.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् हमें यह ज्ञान प्राप्त हो जायेगा कि दबाव समूह क्या होता है तथा इसका क्या कार्य हैं
- हम आसानी से यह जान सकेंगे की भारत की राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था में दबाव समूह की भूमिका किस प्रकार महत्वपूर्ण होती है तथा निर्णय निर्माण की प्रक्रिया को यह किस प्रकार प्रभावित करते हैं।

13.1 प्रस्तावना

भारत में दबाव गुटों निर्माण स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले ही आरम्भ हो चुका था। स्वयं कांग्रेस दल की स्थापना 1685 में ऐसी संस्था के रूप में हुई थी जिसका उद्देश्य राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में ब्रिटिश सरकार से अधिकतम सुविधाएँ प्राप्त करना था। कलकत्ता में 'इंडियन लीग' नामक संस्था की स्थापना की गयी थी। जिसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार से यह माँग करना था कि भारतीय लोक सेवा में भारतवासियों के लिए स्थानों की संख्या बढ़ाई जाए तथा इस सेवा में प्रवेश के लिए निर्धारित अधिकतम आयु सीमा को बढ़ाया जाए। 1920 में भारतीय राजनीति में गांधी जी ने प्रवेश किया और राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नई दिशा दी। गांधी जी ने कृषक तथा श्रमिक वर्ग को संगठित किया और कांग्रेस द्वारा चलाए जाने वाले आन्दोलन को एक जन–आन्दोलन का रूप दिया। प्रथम विश्व युद्ध से पहले कुछ श्रमिक संगठनों का निर्माण हो चुका था। 1916 से भारत में श्रमिक आन्दोलन तेजी से शुरू हुआ और केवल एक वर्ष में सात ट्रेड यूनियनों की स्थापना हुई। 1920 में राष्ट्रीय स्तर पर एक ट्रेड यूनियन 'आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के नाम से संगठित हुई जिसका अध्यक्ष कांग्रेस दल के तत्कालीन अध्यक्ष लाला लाजपत राय को बनाया गया। 1936 में राष्ट्रीय स्तर पर किसानों का संगठन 'आल इंडिया किसान सभा' के नाम से स्थापित हुआ, जिसे कांग्रेस का निर्देशन तथा समर्थन प्राप्त था। इस संस्था की ओर की जमीदारी उन्मूलन तथा भूमि पुनर्वितरण की माँग की गई।

13.2 दबाव समूह

प्रत्येक समाज में अनेक प्रकार के समूह पाए जाते हैं जो मानव जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। मानव समाज समुदायों से निर्मित है; मनुष्य अपने धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए अलग–अलग समूहों का निर्माण करते हैं। समाज में समूहों के निर्माण और उनकी अनेकता के दो आधार होते हैं– (अ) हितों की एकता (ब) हितों की विभिन्नता। एक ही प्रकार के हित रखने वाले व्यक्ति एक समूह में संगठित होते हैं, ताकि सामूहिक प्रयास के द्वारा वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें। वे समूह जो सरकार से कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए अथवा ऐसे कार्यों को न करने के लिए जो उस समूह के हितों के विरूद्ध हों, सरकार पर दबाव डालते हैं, दबाव गुट कहलाते हैं। विस्तृत अर्थों में अध्यापकों का संघ, श्रमिक संगठन, व्यापारिक समूह, धार्मिक समुदाय, नैतिक विकास के लिए बनाए गए संगठन आदि दबाव गुट

कहे जा सकते हैं। 'वी0ओ0 की' के अनुसार ''हित समूह ऐसे गैर सरकारी संगठन हैं जिनका निर्माण सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के लिए किया जाता है। कोई समूह दबाव है या नहीं, इसका निर्धारण इस बात से होता है कि वह सरकार पर दबाव डालता है या नहीं, उसका महत्त्व तथा दबाव की सीमा उसके संगठन, सदस्य संख्या, सदस्यों की योग्यता और आर्थिक स्थिति जैसे तत्वों पर निर्भर करती है।

सरकार पर दबाव डालने के लिए दबाव गुट परिस्थिति के अनुसार सांविधानिक और सांविधानेत्तर साधनों को अपनाते हैं। जब भी ऐसी आवश्यकता होती है, तो आरम्भ में दबाव गुट अपनी माँगों को सांविधानिक तरीकों से पूरा कराने का प्रयत्न करते हैं। समूह के सदस्य विधायकों, राजनीतिक पद–धारकों और पदाधिकारियों आदि से सम्पर्क स्थापित करते हैं और स्मृति–पत्र आदि देकर उन्हें अपनी माँगों से अवगत कराते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेस के माध्यम से भी दबाव गुट अपनी माँगों को सरकार तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्तिगत सम्पर्क, वार्तालाप और शान्तिपूर्ण ढंगों से सरकार पर समुचित दबाव डालने में असफल हो जाते हैं, तो वे प्रदर्शन, हड़ताल और आन्दोलन जैसे साधनों को अपनाकर अपनी माँगों को पूरा कराने के लिए सरकार पर दबाव डालते हैं।

दबाव गुट सदैव सक्रिय नहीं रहते, वे उस समय सक्रिय होते हैं, जब सरकार से कुछ सुविधाएँ चाहते हैं या सरकार द्वारा प्रतिपादित कोई नीति या कानून उन्हें अपने हितों के विरूद्ध दिखाई देता है और वे उसे परिवर्तित या संशोधित कराना चाहते हैं। दबाव गुटों की सदस्यता परस्पर व्यापी होती है, अर्थात् एक व्यक्ति एक साथ से अधिक हित समूहों का सदस्य हो सकता है, जबकि कोई व्यक्ति एक साथ दो राजनीतिक दलों का सदस्य नहीं हो सकता। राबर्ट एल0 हार्डग्रेव ने भारत के दबाव गुटों की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैः–

1. भारत में दबाव गुटों का विकास बहुत मंद गति से हुआ और जो दबाव गुट हैं वे भी बहुत कमजोर हैं।
2. अधिक शक्तिशाली न होने के कारण दबाव गुटों की प्रशासन तक पहुँच बहुत कम है और शक्तिहीनता की स्थिति में होने के कारण वे सरकार को निचोड़ने वाली शक्ति समझते हुए यथासम्भव उससे अलग रहना चाहते हैं।
3. कांग्रेस दल के अन्दर पाए जाने वाले गुटों ने विशिष्ट हितों के एजेंट के रूप में कार्य किया है।
4. अधिकांश भारतीयों में निम्न कोटि की राजनीतिक सामर्थ्य की भावना पाई जाती है।

13.3 व्यापारिक समूह

व्यापारिक समूह :– भारत में व्यापारिक समूहों के निर्माण का इतिहास 19वीं शताब्दी के आरम्भ से शुरू होता है। 1633 के बाद जब भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार का अन्त हो गया और भारत में व्यापार करने का अवसर ब्रिटेन के व्यापारिक हितों को खुले रूप में मिल गया तो भारत में ब्रिटिश व्यापारिक समूह बड़े पैमाने पर व्यापार में लग गए। इससे भारत में व्यापारिक हितों को सुरक्षित रखने की समस्या उत्पन्न हुई और देश के बड़े व्यापारिक केन्द्रों मद्रास, बम्बई, कलकत्ता आदि में यूरोपीय चैम्बर्स का निर्माण हुआ। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जब भारतवासियों की रूचि औद्योगिक क्षेत्र में बढ़ी तो अनेक औद्योगिक संगठनों का निर्माण हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत में औद्योगिक विकास तेजी से होने के कारण इन समुदायों की संख्या बढ़ती गई। 1687 में 'बंगाल नेशनल चैंबर आफ कामर्स' के नाम से बंगाल में व्यापारिक हितों को बढ़ावा देने के लिए और व्यापार करने वालों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए बनाया गया जिसमें 35 व्यापारिक संस्थायें सदस्य बनी थीं। कुछ लोगों ने अपने व्यापारिक हितों को सुरक्षित रखने के लिए 'चैम्बर्स आफ कामर्स' की स्थापना की। 1687 में पश्चिमी बंगाल में 'नेशनल चैंबर आफ कामर्स' की स्थ्ज्ञापना की गई। 1900 में 'मारवाड़ी चैम्बर्स आफ कामर्स' का निर्माण किया गया। 1932 में बंगाल ही में मुस्लिम व्यापारियों का एक संगठन 'मुस्लिम चैंबर आफ कामर्स' स्थापित किया गया। स्वतन्त्रता के पश्चात् इसका नाम बदल कर 'औरियन्टल चैम्बर आफ कामर्स' रख दिया गया।

भारत में राष्ट्रीय स्तर पर निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण व्यापारिक संघों का निर्माण हुआ हैः–

1. असोसिएटेड चैंबर्स आफ कामर्स
2. फेडरेशन आफ इण्डिय चैबर्स कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री (फिक्की)

3. आल इण्डिया मैन्युफैक्चरर्स आर्गेनाइजेशन।

व्यापारिक समूहों के लक्ष्य :– सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते रहे। इस काल में व्यापारिक समूहों की मांगों में नए उद्योगों की स्थापना, अधिक ऋणों की सुविधाएँ, करों में कमी किया जाना, संक्षेप में ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना शामिल था, जिससे भारतीय उद्योगों के विकसित होने में सहायता मिल सके। कांग्रेस द्वारा चलाए जाने वाले स्वदेशी आन्दोलन से व्यापारिक वर्गों को और अधिक प्रोत्साहन मिला। उन्हें यह आशा थी कि ब्रिटिश सरकार का अंत होने और स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् उनके हितों को ज्यादा संरक्षण मिल सकेगा, व्यापारिक संघों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में कांग्रेस का साथ दिया। स्वतन्त्रता के पश्चात् राजनीतिक सत्त कांग्रेस दल के हाथ आई। कांग्रेस ने देश में 'समाजवादी ढंग के समाज' की स्थापना की घोषणा की। यह नीति काफी हद तक व्यापारिक वर्गों के हित में न थी। व्यापारिक वर्ग ने आरम्भ से ही एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया ओर कांग्रेस की आर्थिक नीति के मौलिक सिद्धान्तों का विरोध न करके नियोजन का समर्थन किया। संक्षेप में भारत के व्यापारिक वर्ग का नियोजन के प्रति दृष्टिकोण शत्रुतापूर्ण नहीं रहा है और कभी भी इन समूहों ने सार्वजनिक क्षेत्र का पूर्णतया अंत करने की मांग नहीं की।

व्यापारिक समूह के दबाव साधान :– व्यापारिक समूह अपने हितों को प्रोत्साहित तथा सुरक्षित रखने के लिए निम्नांकित साधनों को मुख्य रूप से अपनाते रहे हैं–

1. **राजनीतिक दलों से सम्बद्धता** :– साधारणतया दबाव गुट सरकार पर प्रभाव डालने के लिए विरोधी राजनीतिक दलों की सहायता लेते हैं लेकिन भारत में विरोधी दलों के अत्यधिक शक्तिहीन होने के कारण दबाव गुटों ने यह महसूस किया कि विपक्षी राजनीतिक दलों के समर्थन से उन्हें कोई विशेष लाभ नहीं मिल सकता। व्यापारिक समूह कांग्रेस का समर्थन प्राप्त करने के लिए कांग्रेस दल को करोड़ों रूपये वार्षिक चंदा देते रहें।

2. **संसद से सम्पर्क** :– स्वतन्त्रता से पूर्व व्यापारिक समूह मुख्य रूप से दो तरीकों से सरकार पर प्रभाव डालते थे। सरकारी तथा अर्ध–सरकारी परामर्शदात्री संस्थाओं, आयोगों तथा अन्य संस्थाओं में इन दबाव गुटों को प्रतिनिधित्व दिया जाता था और इस प्रकार दबाव गुटों को अपना दृष्टिकोण सरकार तक पहुँचाने में मदद मिलती थी। इसके अतिरिक्त विधानमण्डलों में बड़े व्यापारिक समूहों को व्यावसायिक आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाता था।

3. **मंत्रियों तथा स्थायी कर्मचारियों से व्यक्तिगत सम्पर्क** :– भारत में व्यापारिक वर्ग अपनी माँगों को मनवाने के लिए जिस पद्धति का सबसे अधिक प्रयोग करते हैं, वह मंत्रियों, संसद–सदस्यों तथा स्थायी कर्मचारियों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना तथा उनसे पत्र व्यवहार के द्वारा अपनी माँगों को सरकार तक पहुँचाना है। संसद सदस्यों तथा प्रशासकीय पदाधिकारियों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके व्यापारिक समूह अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। इस मैत्री का आधार कभी–कभी जातीयता होता है और कभी विभिन्न प्रकार की भेंट देकर प्रशासकीय कर्मचारियों को अनुग्रहीत किया जाता हैं।

4. **प्रेस** :– व्यापारिक वर्ग की माँगों को सरकार तक पहुँचाने में प्रेस का कार्यभाग काफी महत्वपूर्ण रहा है। देश के अधिकांश महत्वपूर्ण समाचार पत्र बड़े पूँजीपतियों द्वारा चलाये जा रहे है। जैसे 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' इकोनामिक टाइम्स' डालमिया जैन द्वारा, 'हिन्दुस्तान टाइम्स' और ईस्टर्न इकोनामिस्ट' बिड़ला द्वारा, स्टेट्समैन और कामर्स', टाटा और मफतलाल द्वारा, 'इंडियन एक्सप्रेस' और फाइनेंशियल एक्सप्रेस', गोइनका द्वारा चलाए जा रहे हैं। इन समाचार पत्रों तथा मासिक पत्रिकाओं के माध्यम से व्यापारिक संघ सरकार के निर्णय तथा समस्याओं पर प्रकाश डालते है ओर जनमत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते हैं।

व्यापारिक समूहों का प्रभाव एक समीक्षा :– गत वर्षों में व्यापारिक समूहों के निष्पादन को देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय व्यापारिक समूह सरकार की मौलिक नीतियों में परिवर्तन कराने की पर्याप्त क्षमता नहीं रखते। इन समूहों ने आरम्भ से ही सरकार की आर्थिक नीतियों का समर्थन किया और व्यापारिक वर्ग के बहुमत ने सदैव एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए यह स्वीकार किया है कि कांग्रेस के अतिरिक्त किसी अन्य राजनीतिक दल से सम्बद्ध होने से कोई विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता हैं। भारतीय व्यापारिक समूहों की प्रभावशीलता पर प्रकाश डालते हुए ब्रनार्ड ब्राउन ने लिखा है कि व्यापारिक संगठनों का संसद तथा मंत्रिमण्डल द्वारा नीति निर्माण के कार्य पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है और यदि सरकार किसी

मामले में दृढ़ हो जाती है, तो व्यापारिक संगठन उसको उस कार्य को करने से रोक नहीं सकते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि प्रशासन को अपने पक्ष में करके दबाव गुट ऐसे ढंग से नियमों तथा उप–नियमों का निर्माण कराने में सफल होते हैं, जिससे एक अधिनियम का स्वरूप ही बदल जाता है। व्यापारिक समूह उन विभागीय पदाधिकारियों से जिनके द्वारा नियमों का निर्माण किया जाता है, सम्पर्क स्थापित करके और उन्हें विभिन्न तरीकों से अनुग्रहीत करके इस बात का प्रयत्न करते हैं।

श्रमिक संगठन :– भारतीय राजनीति में दूसरा महत्त्वपूर्ण दबाव गुट श्रमिकों का है। भारत में श्रमिक आन्दोलन व्यवस्थित रूप से 1916 से आरम्भ हुआ जब केवल एक ही वर्ष में 7 यूनियनों का संगठन किया गया। 1920 में गांधीजी के राजनीति में प्रवेश करने के बाद श्रमिक आन्दोलन तेजी से आगे बढ़ा, क्योकि गांधीजी ने श्रमिकों को संगठित करके उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रेरित किया। 31 अक्टूबर 1920 को राष्ट्रीय स्तर पर एक श्रमिक संगठन 'आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' के नाम से स्थापित हुआ। 1947 में कांग्रेस के नेताओं ने एक अन्य श्रमिक संघ 'इडियन नेशनल ट्रेक यूनियन कांग्रेस की स्थापना की। इस प्रकार श्रमिक संगठनों का निर्माण दलीय आधार पर होना प्रारम्भ हुआ। स्वतन्त्रता के पूर्व श्रमिकों को संगठित करने का मुख्य उद्देश्य, राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका सहयोग प्राप्त करना था। यह एक ऐसा उद्देश्य था जिस पर सभी राजनीतिक दल एक मत थे। स्वतन्त्रता के पश्चात जब देश में जनतन्त्रीय शासन व्यवस्था की स्थापना की गई और वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को मान्यता दी गयी तो सभी राजनीतिक दलों का मूल उद्देश्य जनमत को अपने पक्ष में करके राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करना हो गया। इसलिए सभी राजनीतिक दलों ने विभिन्न समूहों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया और श्रमिक संगठन भी दलीय राजनीति का शिकार बन गए।

श्रमिक संघों के उद्देश्य :– आरम्भ में श्रमिक संगठनों की माँगें मुख्य रूप से आर्थिक विषयों तक समिति थीं और उन्हें राजनीति से कोई विशेष सम्बन्ध न था। धीरे–धीरे श्रमिक संगठनों की माँगें राजनीतिक माँगों में परिवर्तित होने लगी, क्योंकि आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के बीच पूर्ण पृथक्करण करना सम्भव न था। 1919 में मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार योजना के तैयार होने के समय अनेक राजनीतिक समस्याएँ उदाहरणार्थ वयस्क मताधिकार, विधान मण्डलों में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व, केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच शक्तियों का विवरण जैसी समस्याएँ विचारधीन थीं। आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने वयस्क मताधिकार की माँग की ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा सुविधा देने और श्रमिकों को व्यावसायिक प्रशिक्षण दिए जाने की माँग की श्रमिक संगठनों ने ऐसे राजनीतिक सुधारों की माँग की जिससे देश को स्वशासन की दिशा में ले जाया जा सके। अन्य देशों की तरह भारत में भी श्रमिक संघों की स्थापना का उद्देश्य श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाना तथा उनके हितों को अधिकतम संरक्षण प्रदान करना है। वह सभी एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं जिसमें श्रमिकों का शोषण न हो, उन्हें अपने कार्य के अनुपात में मजबूरी मिल सके, उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण हो, मजदूरों को वास्तविक रूप से नागरिक स्वतन्त्रताओं के उपभोग करने का अवसर मिल सके और समाज में उन्हें अपना उचित स्थान प्राप्त हो। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए चारों श्रमिक संघ भिन्न–भिन्न साधनों को अपनाने के पक्ष में हैं।

श्रमिक संघों के दबाव–साधन :– इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस सांविधानिक साधनों द्वारा श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाना चाहती हैं। इन साधनों में विधायन, शिक्षा, प्रचार, पारस्परिक वार्ता आदि उल्लेखनीय हैं। हिन्द मजदूर सभा अर्थात् समाजवादी दल भी श्रमिक समस्याओं को यथासम्भव सांविधानिक ढंगों से हल करना चाहता है और हड़ताल आदि को अन्तिम साधन के रूप में अपनाने के पक्ष में हैं। चूँकि इन श्रमिक संगठनों पर साम्यवादी दलों का नियंत्रण है, इसीलिए इनका कहना है कि पूँजीवादी व्यवस्था का अंत तथा श्रमिकों के शोषण को खत्म करने का एक मात्र उपाय क्रांति है। ये दोनों संगठन श्रमिकों की समस्याओं को हल करने तथा उनके हितों को सुरक्षित रखने के लिए हिसात्मक ढंगों को अपनाने में भी कोई संकोच नहीं करते। समाजवादी दल

हिन्द मजदूर सभा को जनतन्त्रीय ढाँचे में रखते हुए आन्दोलनात्मक ढंग का समर्थन करता है। इन दोनों के विपरीत साम्यवादी दल श्रमिक संगठनों को क्रान्तिकारी तथा हिंसात्मक ढंगों से राजनीतिक सत्ता दिलाने के लिए प्रयत्नशील है। तीनों राजनीतिक दलों के आदेशों तथा कार्य पद्धति में अन्तर होने के कारण उन श्रमिक संगठनों के बीच भी तनाव होना स्वाभाविक है जो इन अलग–अलग राजनीतिक दलों के नियन्त्रण में हैं।

श्रमिक संघों की विशेषताएँ :– भारत में श्रमिक संगठनों की कुछ विशेषताएँ हैं, उन्हें पश्चिमी देशों की ट्रेड यूनियनों से कुछ भिन्न बना देती हैं–

1. भारतीय श्रमिक संगठन सुसंगठित नहीं हैं जिसके कारण सरकार पर उनका दबाव पूरी तरह नहीं पड़ता।
2. भारतीय श्रमिक संगठन राजनीतिक दलों के नियन्त्रण में कार्य करते हैं। राजनीतिक दल श्रमिक संगठनों को अपने दलीय हितों के लिए इस्तेमाल करते हैं।
3. श्रमिक संगठनों के विभिन्न राजनीतिक दलों से सम्बद्ध होने के कारण उनके बीच पारस्परिक मतभेद और प्रतिस्पर्धा होना स्वाभाविक है।
4. भारत में श्रमिक संगठनों का नेतृत्व बाहरी व्यक्तियों के हाथ में है, अर्थात् विभिन्न श्रमिक संगठनों में अध्यक्ष, मंत्री आदि पदों पर श्रमिकों के बजाय राजनीतिक दलों के ख्याति प्राप्त नेता कार्य करते हैं।
5. श्रमिक संगठनों की निर्बलता का एक कारण उनकी आर्थिक स्थिति का खराब होना है। सदस्यों से लिए जाने वाले मासिक शुल्क के अतिरिक्त उनकी आय का कोई और साधन नहीं है। इसलिए श्रमिक संगठनों की आर्थिक स्थिति का खराब होना स्वाभाविक है।

कृषक समूह :– भारत की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामों में निवास करती है और ग्रामीण जनता का 90 प्रतिशत भाग कृषि के द्वारा अपना जीविकोपार्जन करता है। इस दृष्टि से कृषक वर्ग भारत के आर्थिक हितों में सबसे बड़ा वर्ग है जो, अपनी समस्याओं की दृष्टि से भी अन्य समूहों से बिल्कुल भिन्न है, लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि इतना बड़ा वर्ग होते हुए भी कृषक समाज अब तक सुसंगठित नहीं हो सका है। कृषकों को संगठित करने के प्रयत्न और कृषक आन्दोलन का आरम्भ 19वीं शताब्दी में तब हुआ जब बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब आदि में कृषकों द्वारा आन्दोलन हुए, लेकिन इन आन्दोलन का कोई विशेष प्रभाव सरकार पर नहीं पड़ा। 1917 में गांधी जी ने चम्पारन के किसानों को संगठित किया और गुजरात में लगान वसूली के खिलाफ 1916 में एक सत्याग्रह कराया। 1920 में गांधीजी के हाथों में कांग्रेस का नेतृत्व आने के पश्चात् गांधी जी ने ग्रामीण जनता का समर्थन प्राप्त करने पर विशेष बल दिया और किसानों को संगठित करने की ओर विशेष ध्यान दिया। 1928 में लगान के विरूद्ध 'बारदोली सत्याग्रह' हुआ और 1932 में जूट और रूई के उत्पादकों को कांग्रेस द्वारा संगठित किया गया। 1936 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में एक कृषि सुधार योजना अपनाई गई। इसी वर्ष कुछ कांग्रेसियों और साम्यवादी दल के कुछ नेताओं द्वारा 'आल इंडिया किसान कांग्रेस' की स्थापना की गयी। कांग्रेस से अलग इस प्रकार के संगठन बनाने का विरोध कुछ कांग्रेसियों की ओर से किया गया जिसके फलस्वरूप 1937 में इस संगठन के नाम से 'कांग्रेस' शब्द को निकाल दिया गया और 'सभा' शब्द जोड़ा गया। 1939 में 'आल इंडिया किसान सभा' के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेव ने कांग्रेस से अलग इस संगठन का निर्माण किये जाने के उद्‌देश्यों पर प्रकाश डालते हुए यह कहा था कि कांग्रेस एक बहुवर्गीय संगठन है सिसमें कृषकों के हितों की पूर्ति समुचित रूप से नहीं हो रही है। स्वतन्त्रता के पश्चात् जब साम्यवादी दल पर प्रतिबन्ध लगाया गया तो किसान सभा पर भी रोक लगा दी गई। यह प्रतिबन्ध 1950 तक चलता रहा। 1950 में किसान सभा ने इस बात का प्रयत्न किया कि किसान सभा से अलग हुए व्यक्ति उसमें पुनः वापस आ जाये लेकिन इसमें कोई सफलता नहीं मिली। 1954 में आल इंडिया किसान सभा ने 10,87,000 सदस्य संख्या होने का दावा किया जो 1956 में घट कर 73,600 रह गई। 1957 के चुनाव में किसान सभा ने साम्यवादी दल के उम्मीदवारों का समर्थन किया, लेकिन ऐसा लगता है कि किसान सभा का किसान–मतदाताओं पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा, क्योंकि साम्यवादी दल को इस चुनाव में केवल 15.7 प्रतिशत मत मिल सके। किसान सभा की ओर से सामान्य रूप से करों को घटाने, 25 एकड़ से अधिक भूमि के अवैधानिक ढंग से हस्तांक्षरित किये जाने की जाँच करने, अधिकतम भूमि सीमा को व्यक्तियों के बजाय परिवारों पर लगाने, लघु सिंचाई योजनाएँ बनाने, अप्रत्यक्ष

करों में कमी करने, औद्योगिक वस्तुओं और कृषि वस्तुओं के मूल्य के बीच संतुलन स्थापित करने आदि की माँग की गई।

किसान आन्दोलन–एक समीक्षा :– देश के विभिन्न भागों में हुए किसान आन्दोलन का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि छोटी–मोटी स्थानीय समस्याओं के अतिरिक्त पूरे देश में किसानों की कुछ सामान्य माँगे रही है। जो निम्नलिखित हैं–

1. उत्पादन का लाभकारी मूल्य,
2. करों, विशेषकर बिजली की दरों में कमी,
3. सरकारी कर्जों की माफी,
4. मौलिक भूमि–सुधार,
5. खाद तथा कृषि यन्त्रों के लिए अनुदान,
6. सिंचाई की सुविधा,
7. सस्ते दामों पर दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं की व्यवस्था,
8. कृषि–श्रमिकों की मजदूरी दर में वृद्धि।

जहाँ तक इन माँगों के पूरा होने की बात है, केवल यह कहा जा सकता है कि किसानों की मूल समस्याओं का कोई स्थायी हल राष्ट्रीय स्तर पर अभी तक नहीं निकल पाया है। संख्या में बहुत ज्यादा होते हुए भी किसान–समुदाय धर्म, जाति, आर्थिक स्थिति तथा क्षेत्रीय आधार पर विभाजित हैं। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण किसान अपने सामूहिक हितों के लिए सुसंगठित रूप से कार्य नहीं कर पाते। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र में शरद जोशी द्वारा चलाए गये आन्दोलन में मुख्य रूप से उच्च जाति के किसान सक्रिय रहे हैं जबकि दलित वर्ग का बहुत अधिक समर्थन उन्हें नहीं मिल पाया है। जोशी स्वयं ब्राह्मण है और मराठा जाति के किसान मुख्य रूप से उनके साथ हैं। इसी प्रकार गुजरात में कृषक आन्दोलनों का नेतृत्व पटेल समुदाय के हाथों में रहा हैं। उत्तर प्रदेश में भारतीय किसान यूनियन द्वारा चलाया गया आन्दोलन मुख्यतः जाट किसानों का आन्दोलन है और इसीलिए राज्य के उन जिलों तक सीमित रहा जहाँ जाटों की संख्या बहुत ज्यादा हैं। उत्पादन की दृष्टि से भी किसान विभाजित हैं। गन्ना उत्पादकों और कपास उत्पादकों की अलग–अलग समस्याएँ हैं इसलिए जब गन्ने के मूल्य बढ़ाने की बात होती है तो सारा किसान वर्ग उसमें ज्यादा रूचि नहीं लेता। साधानों की दृष्टि से किसान असहाय से दिखाई देते हैं, वे विरोध रूप में अपने खेतों को बहुत दिनों तक खाली नहीं छोड़ सकते। अगर वह फसल पैदा न करे तो अधिकांश किसानों का जीविकोपार्जन असम्भव हो जायेगा। यदि रेलवे के कर्मचारी हड़ताल करते हैं तो उससे सरकार को भारी हानि होती है, इसलिए सरकार ऐसी स्थिति आने से घबराती है। यदि किसान उत्पादन न करें तो वह भूखों मर जायेंगे। राष्ट्रीय स्तर पर कृषकों के प्रभावी संगठनों का निर्माण और विकास न होने का एक अन्य कारण कृषक का अशिक्षित होना है। कृषक जनता अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण आसानी से गुमराह की जा सकती हैं।

13.4 सारांश

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि भारत में दबाव गुट परिचमी देशों की तरह सुसंगठित, क्रियाशील और प्रभावी नहीं हैं और कुछ विशेष क्षेत्रों को छोड़कर अधिकांश क्षेत्रों में दबाव गुटों का कार्यभाग केवल औपचारिक सा प्रतीत होता है। भारत में दबाव गुटों का प्रभाव प्रशासन से कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने तक समिति रहा है, वे सरकार की नीतियों में परिवर्तन कराने की सामर्थ्य नहीं रखते। दबाव गुटों के विकसित न हो सकने के कारणों में निरक्षरता, राजनीतिक चेतना का अभाव, नेतृत्व का संकट और एक ही राजनीतिक दल का आधिपत्य उल्लेखनीय हैं।

13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. **भारतीय प्रशासन** :– डॉ0 अवस्थी एण्ड अवस्थी, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा

2. **कार्मिक प्रशासन** :— सुरेन्द्र कटारिया, आर0बी0एस0ए0 प्रकाशक जयपुर

3. **भारत में लोक प्रशासन** :— बाबू लाल फाड़िया, साहित्य भवन आगरा

4. **भारतीय प्रशासन** :— प्रो0 मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेशन, दिल्ली।

13.6 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :—

1. सरकारी नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करेन वाले संगठनों को .... कहा जाता है?

   (a) हित समूह (b) प्रभावक समूह

   (c) राजनैतिक दल (d) इनमें से काई नही

2. निम्न में से किसे एक दबाव समूह माना जा सकता है?

   (a) लोकसभा के सदस्य (b) पंचायत के सदस्य

   (c) मंत्रिमण्डल के सदस्य (d) मजदूर के संघ के सदस्य

लघुउत्तरीय प्रश्न :—

1. दबाव समूह से क्या तात्पर्य है?
2. भारत में प्रभावशाली दबाव समूह कौन से हैं? इसके द्वारा अपनाये जाने वाले साधनों एवं तरीकों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन करें।

इकाई–14 सामान्यज्ञ तथा विशेषज्ञ

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 परिचय

14.2 सामान्यज्ञ–अर्थ

14.3 सामान्यज्ञ की भूमिका

14.4 विशेषज्ञ–अर्थ

14.5 विशेषज्ञों की भूमिका

14.6 भारत में सामान्यज्ञों एवं विशेषज्ञों के मध्य विवाद/विरोधाभास

14.7 उपयुक्त ढंग विकसित करना

14.8 सारांश

14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

1. सामान्यज्ञों का अर्थ समझ सकेंगे
2. प्रशासन में सामान्यज्ञों की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे
3. प्रशासन में उनकी भूमिका पर टिप्पणी कर सकेंगे
4. सामान्यज्ञों एवं विशेषज्ञों के मध्य विवाद को स्पष्ट कर सकेंगे तथा इस विवाद के समाधान हेतु उपयुक्त सुझाव दे सकेंगे

14.1 परिचय

सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ सरकार में दो प्रमुख रूप से श्रेणियाँ हैं। ये राजनैतिक कार्यपालकों को नीति निर्माण एवं नीति क्रियान्वयन के क्षेत्र में परामर्श देकर महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वर्तमान प्रशासन की प्रकृति तकनीकि हो गई है। इसलिए इसके कार्यों के कुशल सम्पादन के लिए आवश्यक तकनीकि ज्ञान की योग्यता आवश्यक हो गयी है। प्रशासकों के मध्य सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ का विवाद पुराना है। 1958 में इंग्लैण्ड में जेम्स फेजलर ने इस विवाद की ओर ध्यान दिया। इसके बाद 1968 में लोक सेवाओं पर फुल्टन समिति के प्रतिवेदन ने इस मुद्दे को ताजा कर दिया। भारत ने ब्रिटिश काल में भारतीय लोक सेवा की परम्पराओं के अनुरूप प्रारम्भ से ही सामान्यज्ञ प्रशासकों का वर्चस्व स्वीकार कर लिया गया तथा इसको कोई विशेष चुनौती नहीं दी गई। भारतीय लोक सेवा (ICS) के अनुगामी भारतीय प्रशासनिक सेवा (IAS) के सदस्यों को केन्द्र एवं राज्य सरकारों में विभागाध्यक्ष एवं विभिन्न उच्च पदों पर नियुक्त करके इनके महत्व को स्वतंत्रता के उपरान्त भी कायम रखा गया। किन्तु प्रशासन ने सामान्यज्ञों के निरन्तर बने रहे इस वर्चस्व में अधिकारियों के मध्य असंतोष को जन्म दिया जो हाल ही के वर्षों में तेजी से उभरकर सामने आया।

14.2 सामान्यज्ञ–अर्थ

सामान्यज्ञों के प्रशासन में भूमिका का विश्लेषण करने से पूर्व सामान्यज्ञ का अर्थ समझना आवश्यक है। एल0डी0 व्हाइट के अनुसार– सामान्य प्रशासन का अर्थ नीति निरूपण से सम्बन्धित कार्यों से है। जो सरकारी

तंत्र में समन्वय, सुधार तथा विभागों के सामान्य प्रबन्ध और नियंत्रण के माध्यम से किया जाता है। इस प्रकार एक सामान्यज्ञ प्रशासक उन सभी प्रशासनिक प्रक्रियों से सम्बन्धित है जो 'पोस्डकार्ब' शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है जैसे– योजना बनाना, संगठित करना, कर्मचारी वर्ग रखना, निर्देश देना, समन्वय करना, प्रतिवेदन तथा बजट बनाना आदि।

एक सामान्यज्ञ वह व्यक्ति है जो विशेषज्ञ व वैज्ञानिक नहीं होता। किन्तु सकारात्मक दृष्टि से सामान्यज्ञ प्रशासक एक व्यवसायिक कुशल प्रशासक व्यक्ति पर इस प्रकार लागू होता है। जैसे कि प्रशासनिक कानून, अभियांत्रिकी या चिकित्सा जैसे क्षेत्र आदि। अपनी व्यवसायिक क्षमता में एक सामान्यज्ञ प्रशासक में कुशल प्रबंधन तथा राजनीतिज्ञ की योग्यता एवं तकनीकि क्षमता होती है। जिसे प्रबन्धन का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है तथा एक राजनीतिज्ञ के रूप में वह जनता की भावनाओं को समझते हुए उनकी आर्थिक दशाओं तथा समस्याओं को जानना तथा उनका निराकरण करना आदि के गुण प्रशासक में होना चाहिए।

सामान्यज्ञ ब्रिटिश विचारधारा के अनुसार एक ऐसा प्रशासक है जिसने भाषा साहित्य में शिक्षा प्राप्त की हो। तथा चारित्रिक गुणवत्ता की विशेषताएँ जैसे–शालीनता तथा सही समझ के साथ–साथ विशेषज्ञ ज्ञान कौशल आदि में निपुण होना चाहिए।

अमेरिका के द्वितीय हूवर आयोग द्वारा एक वरिष्ठ लोक सेवा के सन्दर्भ में की गई टिप्पणियों से मिलता जुलता है। जिसके अनुसार सामान्यज्ञ लोक सेवा श्रेणी का ऐसा प्रमुख स्तर है। जो बहुत उच्च अनुभव प्राप्त प्रशासनिक विशेषज्ञ या जीवन वृत्ति परक कार्यपालक है। वह विभिन्न प्रकार के प्रशासनिक पदों पर कार्य करने के लिए उपयुक्त है। नीतियों के निर्माण में भी आवश्यक कार्य एवं परामर्श प्रदान करने की क्षमता रखते है।

प्रशासनिक कार्य भार की तुलना में विशिष्ट (विशेषज्ञ) कर्तव्यों के अनुपात में सामान्यज्ञ ठहराया जाता है। इसमें व्यक्ति सामान्य प्रशासनिक कर्तव्यों की तुलना में कई गुना विशिष्टीकृत रहता है। इसलिए एक विशेषज्ञ लोक सेवक एक सामान्यज्ञ प्रशासक में बदल सकता है। वह स्वयं अपने विभाग या क्षेत्र के उच्च पद सोपान में अपने विभाग से बाहर किसी अन्य कार्य क्षेत्र में अधिक प्रबंधकीय या प्रशासनिक कर्तव्यों का निर्वहन करता है।

परम्परागत रूप में समाान्यज्ञ को परिभाषित करते हुए कहा जाता है कि वह ऐसा व्यक्ति है जिसे किसी विशिष्ट क्षेत्र में ज्ञान या तकनीकि विशेषज्ञता प्राप्त नहीं होती है। लेकिन तकनीकि व्यवसाय विषयों जैसे अभियांत्रिकी, चिकित्सा, कृषि आदि से सम्बन्धित व्यक्ति प्रशासक लोक सेवक व्यक्ति सामान्य प्रशासनिक क्षेत्र में प्रवेश करते जा रहे हैं। लोक सेवक सामान्यज्ञ की विशिष्ट विषयगत शिक्षा व उपाधि का उसके प्रशासनिक कर्तव्यों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। चाहे उसके द्वारा सम्पादित किये गये कार्य या कर्तव्य विशिष्टकृत क्यों न हो। एक संगठन में चाहे सरकारी विभाग हो, या लोक उद्यम संगठन कोई भी प्रशासनिक संस्थान हो जैसे–जैसे प्रशासनिक अधिकारी संगठन के पद सोपान में ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। उसके कार्य अधिकाधिक सामान्य प्रबंधकीय प्रकृति के हो जाते हैं।

14.3 सामान्यज्ञों की भूमिका

उच्चस्तरीय प्रशासनिक व्यवस्था पर सामान्यज्ञों का पीढ़ी दर पीढ़ी वर्चस्व 19वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के प्रशासनिक दर्शन से शुरू होता है। जहाँ सामान्यज्ञता को ही प्रशासन का सम्पूर्ण सिद्धान्त बना दिया गया था। सामान्यज्ञों की प्रतिष्ठा बढ़ाने में इंग्लैण्ड की दो महत्वपूर्ण शक्तियाँ नार्थ कोटे ट्रेवेलियन प्रतिवेदन 1654 स्थायी लोक सेवा संगठन तथा 1654 में ही भारत सिविल सेवा पर लार्ड मैकाले का प्रतिवेदन बहुत ही महत्वपूर्ण रहा है। अपने–अपने प्रतिवेदन में इन दोनों ही आयोगों में समाान्यज्ञों की वरीयता एवं वर्चस्व पक्षपोषित किया है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत नौजवान स्नातकों में विशिष्ट शिक्षा या तकनीकि ज्ञान की आवश्यकता नहीं थी। वो प्रशासन का अभिजात वर्ग था। इंग्लैण्ड की तरह ही भारत में भी इस विचारधारा को समर्थन प्राप्त हुआ। प्रशासनिक व्यवस्था में दर्शन को तर्कसंगत माना गया है। ब्रिटिश काल में विभिन्न सरकारी विभागों में उच्च पदों पर भारतीय सिविल सेवा के सदस्यों को ही नियुक्त किया जाता था। इस तरह सामान्यज्ञ सम्पूर्ण प्रशासन में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। उस समय प्रशासन विशेषज्ञों की संख्या नगण्य थी। फलस्वरूप भारतीय सिविल सेवा का एक अभिजात वर्ग विकसित हो गया था।

सामान्यतः सम्पूर्ण प्रशासन के क्षेत्र की सम्पूर्ण समझ व व्यापक दृष्टिकोण रखता है। उसके मस्तिष्क में पर्यवेक्षण

व नियंत्रण के भाव उच्च स्तर पर होते हैं। इस प्रकार सामान्यज्ञों की राजनैतिक कार्यपालकों द्वारा नीति निर्माण में सहायता व परामर्श देने में उच्चस्तरीय भूमिका निभाते हैं। तथा नीति निर्माण की प्रक्रिया में सूचनाएँ, आंकड़े, सलाह आदि मंत्रियों के समक्ष रखते हैं। विभिन्न सरकारी मंत्रालयों व विभागों के सचिव तथा विभागाध्यक्ष केवल साामन्य प्रशासक ही होते हैं। जो सभी मुद्दों पर अपना विशिष्ट दृष्टिकोण रखते हुए विशेष मामलों को मंत्रियों के समक्ष रखते हैं। तथा सफलतापूर्वक समन्वय का कार्य करते हैं। इस प्रकार सामान्यज्ञों की भूमिका उच्च नीति निर्माताओं को कार्यवाही व उपयोग के लिए सही प्रकार से तथ्य उपलब्ध कराना, तथा समय–समय पर उचित सलाह प्रदान करना आदि है। सामान्यज्ञों द्वारा प्रशासन में उत्पन्न विवादों को सामंजस्य एवं तालमेल बैठाकर समन्वय स्थापित किया जाता है। यह इसलिए संभव होता है क्योंकि वे सभी समस्याओं को समग्र प्रशासनिक परिप्रेक्ष्य में देखने की योग्यता रखते हैं।

सामान्य समस्या समाधान के क्षेत्र में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सरकारी संगठनों में अति महत्व के तकनीकि व्यवसायिक कार्य जिसमें सामंजस्य, लागत, प्रभाव, सर्वाधिक लाभकारी विकल्प के समाधान के लिए एक कुशल सामान्यज्ञ प्रशासक की आवश्यकता होती है। इसके अलावा नीति निर्माण के साथ–साथ निर्णयों के सही क्रियान्वयन में सामान्यज्ञों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

सामान्यज्ञों को ज्ञान तथा कार्यवाही दोनों क्षेत्रों में समन्वयकर्ता की भूमिका निभाना पड़ता है। वह ऐसा प्रशासक होता है जो परिस्थिति, कानून व्यवस्था, आपातकाल, जनसम्पर्क, नियोजन आदि कार्यों को पूरा करने के लिए उसे पूर्ण रूप से सक्षम माना जाता है। सामान्यज्ञ को क्षेत्रीय प्रशासन का अनुभव उसे विकट परिस्थितियों में ही शीघ्र निर्णय लेने को युक्तियुक्त बनाता है। राजनीतिक कार्यपालक जो सामान्यजन होते हैं तकनीकि विशेषज्ञता से नहीं बल्कि नागरिकों की समस्याओं से परिचित होते हैं। जो अधिकांशतः प्रशासकों पर निर्भर करता है कि विपरीत परिस्थिति में भी संतुलित ढंग से कार्य करने की विशिष्ट क्षमता प्राप्त हो।

14.4 विशेषज्ञ–अर्थ

विशेषज्ञ एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसे किसी विशिष्ट क्षेत्र में विशेष ज्ञान और दक्षता प्राप्त होता है। इस प्रकार वे सरकार में विशेषज्ञ होते है। जिनकी भर्ती व्यवसायिक, वैज्ञानिक, तकनीकि तथा अन्य विशेषज्ञता व ज्ञान के आधार पर पदों पर की जाती है। जैसे डाक्टर, अभियंता, वैज्ञानिक, वकील, सांख्यिक, अर्थशास्त्री एवं तकनीकि अधिकारी शामिल किये जा सकते हैं। एक विशेषज्ञ के लिए पद में योग्य होने के लिए संस्थागत विशेषज्ञता की मूल आवश्यकता होती है। अर्थात पद पर नियुक्ति होने से पूर्व उसको व्यवसायिक तकनीकि शैक्षणिक शिक्षा प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार पृथक पद सोपानों में नीति निर्धारण का कार्य सामान्यज्ञों द्वारा किया जाता है। जबकि नीतियों के क्रियान्वयन का कार्य विशेषज्ञों के जिम्मे होता है। जबकि सामान्य स्तर के पद सोपान में व्यवस्थाओं का अपना समानान्तरण उप–पदसोपान होता है। तथा इन दोनों में समन्वय आपसी सम्पर्क बैंकों द्वारा स्थापित किया जाता है। कार्य के नीतिगत तथा वित्तीय पहलुओं को पूरी तरह से सामान्यज्ञ प्रशासकों के लिए आरक्षित कर दिया जाता है। सामान्यज्ञों तथा विशेषज्ञों के पृथक पद सोपान क्रमों में संगठन के निश्चित रूप से कुछ दोष और हानियाँ है जैसे– प्रबन्ध तथा निर्णय निर्माण की प्रक्रिया का शिथिल पड़ जाना तथा अकार्य कुशलता का उत्पन्न हो जाना तथा विशेषज्ञों को सामान्यतया उनके व्यवसाय से जुड़े उत्तरदायित्वों को पूरी तरह से सम्पादित करने में हस्तक्षेप करना आदि।

विशेषज्ञों को उच्च प्राथमिक पदों पर पहुँचने में बाधा पहुँचाने वाले कारणों को दूर करने के लिए सामानज्ञों के एकाधिकार में परिवर्तन करके विशेषज्ञों को उपयुक्त अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। प्रशासनिक एवं नीति निर्माण के प्रमुख पदों पर विशेषज्ञों के प्रवेश को प्रोत्साहन देना आवश्यक है। इसके अलावा नीति निर्माण के तथा प्रबन्ध क्षेत्र में विशेषज्ञों को सामान्यज्ञों के साथ मुख्य सोपान में एकीकृत किया जाना चाहिए। जिससे उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए उनकी बराबर की भागीदारी सुनिश्चित हो सके। उनके मनोबल तथा विश्वास को ऊँचा बनाये रखने के लिए उन्हें बराबरी का दर्जा तथा प्रशासनिक उत्तरदायित्व तथा शक्तियाँ प्रदान की जानी चाहिए।

परमाणु ऊर्जा विभाग में सचिव के पद पर किसी प्रख्यात वैज्ञानिक को भी नियुक्त किया जाता रहा है। भारत सरकार के अन्तरिक्ष विभाग, इलेक्ट्रानिकी विभाग तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभागों के सचिव पद पर विशेषज्ञों को ही नियुक्त किया गया है। वैज्ञानिक अनुसंधान संगठनों और विभागों में भी वैज्ञानिकों विशेषज्ञों को ही

नियुक्त किया जाता है। भारत सरकार के मंत्रालय एवं विभागों में संयुक्त सचिव/अतिरिक्त शासन सचिव स्तर प्रदान करना है। रेलवे मण्डल के सदस्य जो सम्बन्धी संचालन विभाग के अध्यक्ष होते हैं उन्हें रेल मंत्रालय में पदेन सचिव का स्तर प्रदान किया गया है।

विशेषज्ञ के मुख्य लक्षण अपने कार्य के प्रति समर्पण, व्यवसाय के प्रति सम्बद्धता व निरन्तर प्रतिबद्धता तथा अपनी विशेषज्ञता में सुधार के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। सामान्यज्ञों के पक्षधर सामान्यतः विशेषज्ञों को संकुचित व बहुत सीमित सन्दर्भ से देखते हैं। वे प्रशासनिक तथा प्रबन्धकीय समस्याओं की जटिलताओं को परिपूर्ण और व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देख पाते। उन्हें समग्र रूप से समझने में असमर्थ रहते हैं इसलिए उच्च प्रशासनिक पदों के लिए विशेषज्ञ अनुपयुक्त होते हैं।

14.5 विशेषज्ञों की भूमिका

वर्तमान समय में प्रशासन अधिक तकनीकी, व्यवसायिक तथा विशिष्टीकृत हो गया है। विकास की नयी अवधारणा के कारण सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक उत्थान के साथ पूरे समाज के परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया जाता है। नौकरशाही के कार्यों पर इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में राज्य को एक नियामक सेवा संचालक आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के निदानकर्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है। जो राज्य की ओर से ये सारी भूमिकाएँ नौकरशाही को ही निभानी पड़ती है। सभी कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए नौकरशाही को व्यवसायिक दृष्टि से पूरी तरह से कार्य करने के लिए तत्पर होना चाहिए। प्रशासनिक संगठन में सामान्यज्ञों तथा विशेषज्ञों को अपनी–अपनी भूमिका का सही ढंग से निर्वाह करने के लिए व्यवसायिक दक्षता प्राप्त करना आवश्यक है।

विशेषज्ञों के संकुचित दृष्टिकोण के लिए उत्तरदायी कारक उनकी शिक्षण–प्रशिक्षण व्यवस्था है। सामान्यज्ञों में विशेषज्ञता के सभी आवश्यक तत्व मौजूद रहते हैं। वे विभिन्न विरोधाभासी मतों पर विचार करके समग्र दृष्टिकोण के आधार पर ही निर्णय लेते हैं इसलिए प्रशासन में सामान्यज्ञ तथा विशेषज्ञ दोनों की सेवाओं की आवश्यकता रहती है।

आधुनिक समय में प्रशासनिक संगठनों की समस्याएँ तकनीकि प्रकृति की हो गई हैं। इसलिए जटिल तकनीकि समस्याओं के समाधान के लिए विशेषज्ञ ज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य है। इसके अलावा प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में तरह–तरह की विशेषज्ञता, योग्यता एवं अनुभवों की आवश्यकता होती है। वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में कार्यक्रम नियोजन एवं परियोजनाओं के क्रियान्वयन में विशेषज्ञों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। सरकार के विशेषज्ञ कार्य क्षेत्र में नीति निर्माण तथा निर्णय लेने के सम्बन्ध में कार्यों का उत्तरदायित्व विशेष रूप से विशेषज्ञ प्रशासकों का होना चाहिए।

प्रशासन विस्तृत परिवर्तनों एवं प्रबंधनों की जिम्मेदारी ग्रहण कर रहा है। इसलिए भविष्य प्रशासन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी सामाजिक एवं व्यवहारिक ज्ञान निर्णय एवं निर्माण प्रबंन्ध, मानवीय सम्बन्ध आदि क्षेत्रों को विकास के लक्षणों से जाना जायेगा। इसलिए प्रत्येक क्षेत्र में व्यवसायिक विशेषज्ञता की आवश्यकता है। जैसे– सरकारी संगठनों में कम्प्यूटर यंत्र के प्रयोग में प्रशासनिक कार्यों की प्रकृति पर गहरा प्रभाव डाला है। कम्प्यूटर न केवल सूचनाओं के संग्रह, समीकरण तथा सम्प्रेषण के कार्य को कुशलता से करता है। बल्कि निर्णय लेने में भी मद्द करता है। प्रशासन के परम्परागत क्षेत्रों में भी विशेषज्ञों की भूमिका निरन्तर बढ़ती जा रही है। जिला प्रशासन के मुखिया के रूप में आज जिलाधिकारी अपने नियामक कार्यों के सम्पादन एवं समस्याओं के निराकरण के लिए विभिन्न विभागों में कार्य कर रहे विशेषज्ञों जैसे अभियंता, स्वास्थ्य अधिकारी आदि की सलाह पर कार्य करते हैं।

14.6 भारत में सामान्यज्ञों एवं विशेषज्ञों के मध्य विवाद/ विरोधाभास

भारत में सामान्यज्ञों एवं विशेषज्ञों के बीच विवाद का उद्भव उच्च नीति निर्माण के पद से इन अधिकारियों के समीप या दूरी की अवधारणा से जुड़ा हुआ है। यह विवाद व्यक्तिगत न होकर पद पर आधारित है। सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ के मध्य तनाव वास्तव में कुछ महत्वपूर्ण पद की स्थितियों को प्राप्त करने के लिए रहा है।

भारतीय प्रशासन में सामान्यज्ञों का वर्चस्व स्थापित करने के लिए ऐतिहासिक कारण उत्तरदायी हैं। जिन्होंने कार्मिक प्रशासन को दो श्रेणियों में विभाजित किया है। ब्रिटिश काल में भारत में लोक सेवाएँ प्रारम्भ में बन्द

प्रणाली पर आधारित था जो बाद में प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर भर्तियाँ की जाने लगी थीं। जिला स्तर से केन्द्रीय स्तर तक प्रशासन की व्यवस्थति पद सोपान क्रम व्यवस्था निश्चित की। जिसमें अधिकांश पद भारतीय सिविल सेवा सदस्यों के लिए सुरक्षित रहते थे। सामान्यज्ञ सेवाओं की संरचना में बुद्धिमान शिक्षित नवयुवकों को भर्ती में वरीयता दी गई। स्वतंत्रता के बाद भी यह व्यवस्था जारी रही क्योंकि सरकारी स्थिरता तथा मजबूती के लिए लोक सेवाओं की ब्रिटिश पद्धति ही सर्वाधिक उपयोगी थी। जैसे– कानून एवं व्यवस्था की स्थिति सुदृढ़ रखना, देशी रियासतों का एकीकरण करना आदि। इस प्रकार पूर्व में चल रही भारतीय सिविल सेवा को भारतीय प्रशासनिक सेवा में स्थानापन्न करके अखिल भारतीय सेवाओं की अवधारणा को मजबूत किया गया है। इस प्रकार भारत में स्थापित सामान्यज्ञ लोक सेवा का वर्चस्व ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम था।

बदलते हुए परिवेश में सरकार के वर्तमान कर्तव्यों को पूरा करने के लिए व्यवसायिक दक्षता की आवश्यकता है जो सामान्यज्ञों में सामान्यतया देखने को नहीं मिलती है। उसके अलावा सामान्यज्ञों में विशेषतः भारतीय प्रशासनिक सेवा अधिकारियों द्वारा सभी उच्च प्रबंधकीय पदों को आरक्षित करने से सरकार विशेषज्ञों के परामर्श एवं ज्ञान से वंचित रह जाती है। इसलिए सामान्यज्ञों के समर्थन में विद्वानों ने यह तर्क दिया है कि सामान्य प्रशासकों द्वारा उनकी सेवा के प्रारम्भिक वर्षों में जिला एवं राज्य स्तर पर जो क्षेत्रीय प्रशासन का अनुभव लिया जाता है। वह सभी प्रकार के निर्णय लेने में मद्दगार साबित होता है। विशेषज्ञ प्रशासकों के समर्थकों का मत है कि सामान्यज्ञों द्वारा क्षेत्रीय प्रशासन का अनुभव लिया जाता है जो केवल उसी के आधार पर सरकार के विभिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पादित नहीं किया जा सकता है। बल्कि उन कार्यों को पूरा करने के लिए विशेष ज्ञान एवं दक्षता की आवश्यकता रहती है। जैसे– प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र में कार्यरत चिकित्सक के सामने वे सभी क्षेत्रीय समस्याएँ आती हैं जो क्षेत्रीय प्रशासन में जिलाधिकारी अनुभव करता है। इस प्रकार वह अपनी तकनीकी दक्षता के अलावा कुछ प्रशासनिक योग्यताएँ भी ग्रहण कर लेता है।

विवाद का एक अन्य कारक भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों की विशेषाधिकार प्राप्त स्थिति के सम्बन्ध में है। जिसमें उन्हें अधिक वेतन, अधिक आकर्षक सेवा, पदोन्नति के अवसर, विभागों के सचिव आदि बनाये जाते हैं। जो विवाद के प्रमुख कारण है। सरकारी विभागों के विभागाध्यक्ष के पद सामान्यज्ञ प्रशासकों के लिए आरक्षित रहते हैं। भविष्य की दृष्टि से देखा जाये तो भारतीय प्रशासनिक सेवा का सदस्य 10 वर्ष तक राज्य प्रशासन की सेवा करने के उपरान्त केन्द्रीय सचिवालय में चला जाता है। वहीं पर विशेषज्ञ केन्द्रिय सचिवालय या विभाग का सचिव भी नहीं बन सकता। जो कि विशेषज्ञों के साथ उपेक्षा का भाव है। विशेषज्ञ महसूस करते हैं कि प्रशासनिक पद सोपान में उनकी स्थिति देश को तकनीकी क्षेत्र में विकसित करने में उनका महत्वपूर्ण योगदान होता है किन्तु नीति निर्माण की शक्तियों से उन्हें दूर रखना सामान्यज्ञ प्रशासकों की सोची समझी रणनीति है।

सामान्यज्ञ प्रशासक तथा विशेषज्ञ तकनीशियन के मध्य उत्पन्न विवाद का ध्रुवीकरण हो गया है। 19वीं शताब्दी का ब्रिटेन में प्रचलित बुद्धिमान नौजवान का सिद्धान्त वर्तमान प्रशासनिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास के साथ–साथ अब प्रशासन की प्रकृति बहुत जटिल हो गयी है इसलिए वर्तमान समय में सामान्यज्ञ तथा विशेषज्ञ दोनों की आवश्यकता है। साथ ही दोनों के मध्य सहयोग की भावना विकसित किये जाने की आवश्यकता है।

प्रशासनिक सुधार आयोग 1969 की सिफारिशों का विशलेषण करना महत्वपूर्ण है। प्रशासन के नये क्षेत्रों के उदय के साथ विकास के विभिन्न कार्यक्रमों को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए विभिन्न प्रकार की विशेषज्ञ योग्यताओं की आवश्यकता है। आयोग ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि सामान्यज्ञ प्रशासक बहुत उपयोगी है। आयोग ने माना है कि बढ़ती हुई प्रौद्योगिकी के कारण विशिष्टीकृत एवं तकनीकि क्षेत्र में बहुत से पद विशेष ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञों द्वारा भरे जा सकते हैं। इसलिए विशेषज्ञ सचिवालय में उच्च प्रशासनिक स्थितियाँ प्राप्त करने के लिए आवश्यक योग्यताएँ केवल उन्हें उपयुक्त अवसर विकास के अभाव के कारण प्राप्त नहीं करा पाये हैं। आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत की हैं जैसे–

1. नीति परामर्शदात्री पदों को आवश्यक योग्यता एवं अनुभव वाले व्यक्तियों के द्वारा ही भरा जाये।
2. उच्च प्रबंधकीय पदों पर सामान्यज्ञों तथा विशेषज्ञों दोनों को नियुक्त किया जाये।
3. प्रत्येक पद से सम्बन्धित उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने के लिए विवेकपूर्ण वेतन संरचना लागू किया जाये।

4. लोक सेवा में कार्य निष्पादन तथा योग्यता के आधार पर निम्न स्तर के कर्मचारियों को प्रोत्साहन देना जिससे उच्च पदों पर नियुक्त होने के लिए योग्य बन सकें।

1968 में फुल्टन समिति ने ब्रिटिश सेवा के पुनर्गठन पर अपने प्रतिवेदन में कहा कि हमारा उद्‌देश्य प्रशासकों द्वारा विशेषज्ञों का स्थानापन्न करना नहीं है। और न ही विशेषज्ञों द्वारा सामान्यज्ञों का स्थान लेना है। ये एक दूसरे के पूरक होने चाहिए न कि विरोधी। अपने क्षेत्र में प्रशिक्षण एवं अनुभव प्राप्त प्रशासकों को अपने साथी विशेषज्ञों के साथ अधिक सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने चाहिए। जिससे लोक सेवा में गुण एवं योग्यताओं से प्रशासन में अधिकतम योगदान लिया जा सके।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामान्यज्ञ तथा विशेषज्ञ दोनों ही अपनी–अपनी कार्यात्मक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। सभी सामान्यज्ञ प्रशासकों को विशेषज्ञों में बदल दिया जाये तो प्रशासन में कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त नहीं होगी। इसलिए जहाँ एक ओर विशेषज्ञों व सामान्यज्ञों को एक साथ सहयोगी भावना से रहना स्वीकार करना पड़ता है। वहीं पर वास्तव में यह भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि इनके आपसी सम्बन्ध की संरचना, तरीका व भूमिका कैसी होनी चाहिए।

14.7 उपयुक्त ढंग विकसित करना

इस समस्या के समाधान के लिए लोक सेवा में वर्तमान में पृथक तथा सामानान्तर पद सोपान व्यवस्थाओं के स्थान पर एक ही प्रकार के एकीकृत पदसोपान तंत्र को प्रयोग के तौर पर महत्वपूर्ण नीतिगत मामलों में उच्च राजनैतिक कार्यपालकों को सहायता एवं परामर्श देने के लिए जरूरी है। प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिश की सेवाओं में अधिक उद्‌देश्यपूर्ण ढंग से व्यवसायवाद की आवश्यकता है। यह नवोदय प्रशिक्षण कार्यक्रमों तथा जीवनवृत्ति नियोजन एवं विकास के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। सामान्यज्ञों में आवश्यक कार्यात्मक विशेषता के गुण उत्पन्न किये जायें तथा विशेषज्ञों में सामान्य प्रशासकों की योग्यताएँ एवं दृष्टिकोण विकसित किया जाये।

कार्मिक विभाग में केन्द्रीय प्रशिक्षण खण्ड उच्च अधिकारियों को विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रमों जैसे प्रबंधकीय विकास कार्यक्रम, वार्षिक सम्मेलन आदि के माध्यम से दोनों विशेषज्ञों एवं सामान्यज्ञों को विशिष्ट विषयों से सम्बन्धित विकास के बारे में जानकारी देना आवश्यक है। साथ ही प्रशासकीय प्रबंध तथा कार्यक्रम नियोजन आदि से सम्बद्ध विभिन्न पहलुओं पर प्रशिक्षित करना जरूरी है।

विशेषज्ञों में असन्तोष का प्रमुख कारण सामान्यज्ञ प्रशासकों के समकक्ष उनके उच्च वेतन भत्ते व अन्य उपलब्धियों के लिए निरन्तर मांग रही है। इनके बीच यह असन्तुलन तथा अन्तर अभी भी विद्यमान है। वेतन आयोगों की सिफारिशें इस मामले में कोई विशेष प्रगति नहीं कर पायी है। सरकार को यह प्रयास करना है कि सामान्यज्ञों तथा विशेषज्ञों की वेतन श्रृंखला में समानता स्थापित हो। विशेषज्ञों के गुण तथा दक्षता को उपर्युक्त तरीके से प्रोत्साहित किये जाने की आवश्यकता है।

14.8 सारांश

विशेषज्ञ बनाम सामान्यज्ञ का परम्परागत विवाद में लोक प्रशासन की समस्याओं के निराकरण के लिये मानविकी, समाज विज्ञान एवं कला विषयों का अध्ययन कुछ पहलुओं जैसे मुख्य विचारधारा समग्र दृष्टिकोण, समन्वय के गुण आदि विकसित करता है। इसके साथ ही जो कुछ तकनीकी विषयों का अध्ययन करते है केवल विशेषज्ञ दृष्टिकोण रखने से ही उपरोक्त योग्यताओं से वंचित नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक अवधारणा अनुभवपरक ज्ञान, उच्च गुणवत्तायुक्त निर्णय, निर्णय लेने की क्षमता बढ़ती हुई आवश्यकता एवं महत्व के कारण सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ के बीच विवाद कम हुए हैं। उच्च स्तरीय प्रशासनिक पदों पर कार्यरत नीति निर्माताओं, कार्य के लिए समर्पण भावना, विकास के क्षेत्र में तीव्र सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन के कारण इन दोनों समूहों की सामूहिक साझेदारी तथा उत्तरदायित्व, नई चुनौतियों का सामना करने के लिए राष्ट्रीय लक्ष्यों को पूरा करने में दोनों का महत्व है। सामान्यज्ञों एवं विशेषज्ञों की भूमिका और आवश्यकता को लगभग सभी क्षेत्रों में स्वीकार कर लिया गया है। लोक प्रशासन में नूतन व्यवसायियों को विशेषज्ञता को उनके कार्यों की प्रकृति से समन्वित करके विकसित करना है।

सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ प्रशासन में दो मुख्य कार्यात्मक समूह हैं जो नीति निरूपण तथा नीति क्रियान्वयन के क्षेत्र

में अहम भूमिका निभाते हैं। सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ प्रशासन के अध्ययन में महत्वपूर्ण घटकों का निर्माण करते हैं। उनमें से किसी एक के द्वारा दूसरे का स्थान ग्रहण करने का प्रश्न नहीं उठता है। इन दोनों के मध्य तनाव को कम करने के लिए उपाय किये गये हैं। इसमें नीति निर्धारण के प्रशासनिक पदों पर विशेषज्ञों के लिए कुछ सफल प्रयास किये गये हैं। इसलिए सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ दोनों ही प्रकार के प्रशासकों के लिए नियोजन एवं विकास के मार्ग को प्रशस्त करने पर बल दिया गया है।

14.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्रशासन में सामान्यज्ञों की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।

....
....
....

2. विशेषज्ञ कौन होते हैं तथा उनकी प्रशासन में क्या भूमिका होती है वर्णन कीजिए।

....
....
....

3. प्रशासन में सामान्यज्ञ तथा विशेषज्ञों के मध्य विवाद के कारणों का परीक्षण कीजिए।

....
....
....

4. सामान्य तथा विशेषज्ञ के मध्य तनाव को कम करने के उपाय सुझाइये।

....
....
....

5. सामान्यज्ञ एवं विशेषज्ञ की समस्या के समाधान हेतु प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशें लिखिए।

....
....
....

14.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. लोक सेवा मे हूवर आयोग किस देश से सम्बन्धित है?

   (a) अमेरिका (b) भारत (c) ब्रिटेन (d) इनमें से कोई नहीं

2. सामान्य प्रशासन से आशय नीति निरूपण से सम्बन्धित कार्यों से है?

   (a) लुथर गुलिक (b) एल0डी0 व्हाइट

   (c) साइमन (d) इनमें से कोई नहीं

उत्तर–

1-A, 2-B,

14.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सिंह मोहिन्दर एवं होशियार सिंह 1989, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस, स्टर्लिंग पब्लिशर्स : नई दिल्ली।
2. सुब्रामनियम, मलाथी, 1937, मैनेजमेन्ट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन पैटर्नस इन दि जनरलिस्ट बनाम स्पेशलिस्ट, डिप्टी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

इकाई–15 प्रशासनिक सुधार

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 प्रशासनिक सुधार

15.3 प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग

15.4 सारांश

15.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.6 बोध प्रश्न

15.0 उद्देश्य

- इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् हमें यह ज्ञान प्राप्त हो जायेगा कि प्रशासनिक सुधार क्या है तथा इसके क्या कार्य हैं।
- इस इकाई से भारत में अब तक हुए प्रशासनिक सुधार आयोगों द्वारा गयी सिफारिशों तथा व्यवहारिक रूप से उन सिफारिशों को अमल में लाये जाने तथा प्रशासन के सन्दर्भ में अभी भी बहुत सारे सुधारों जो शेष हैं, के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

15.1 प्रस्तावना

किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की सरकारी प्रशासनिक मशीनरी में सुधार की आवश्यकता को विश्वभर में स्वीकार किया गया है। प्रशासनिक अभिकरण की स्थापना की कुछ विशिष्ट हितों की सेवा, कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति तथा कुछ सेवाओं को संचालित करने के मन्तव्य से की जाती है। भारत सहित प्रत्येक देश के प्रशासन के समक्ष यह एक महत्वपूर्ण चुनौती है कि सीमित स्त्रोतों से अधिकतम लाभ किस प्रकार उठाया जाये तथा लोक–सेवाओं का उत्पादन व जन–हित में योगदान कैसे बढ़ाया जाये।

प्रशासन अपनी इन सीमाओं के प्रति अनभिज्ञ नहीं होता है। नवीन प्रयोग, सुधार एवं पुर्नगठन किसी प्रशासनिक प्रक्रिया के अभिन्न अंग होते हैं। किसी भी सरकार की प्रमुख समस्या सरकार द्वारा अपनायी जाने वाली प्रक्रिया, कार्यविधि तथा नियमों का अप्रचलन हैं। अतः किसी भी प्रशासनिक व्यवस्था में, विशेष रूप से लोकतान्त्रिक समाज में, परिवर्तन और नवीन प्रयोग सदैव होते रहे हैं। हाल ही में अनेक गैर–शासकीय संस्थाएँ स्थापित हुई हैं जो प्रशासनिक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर शोध–अध्ययन कर रही हैं। ऐसी संस्थाएँ परिवर्तन के पक्ष में जनमत तैयार करती है और परिवर्तन लाने के लिए सुझाव भी देती हैं। इस दिशा में प्रशासन परिवर्तन की ओर प्रयत्नशील है और समय–समय पर नवीन सुधार करता रहता हैं। स्वतंत्रता के बाद वर्ष 1954 को भारतीय प्रशासनिक सुधार के इतिहास में सीमा चिन्ह कहा गया है। वैसे भारतीय प्रशासन में सुधार की प्रक्रिया की शुरूआत गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी के शासन काल में देखी जा सकती है। इस काल में नागरिक सेवा में भर्ती के लिए खुली प्रतियोगी परीक्षा का शुभारम्भ हुआ था। इस दिशा में दूसरा अच्छा प्रयास कर्जन द्वारा भारतीय नागरिक सेवा के लिए पदावधि प्रणाली का प्रारम्भ तथा कार्यालय नियम पुस्तिका की तैयारी करना था। अंग्रेजी शासन काल में सरकार वैधानिक परिवर्तनों को करने से पहले प्रायः देश की प्रशासकीय व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं की जांच करने के लिए शाही आयोग नियुक्त किया करती थी। 19वीं सदी के अन्त में तथा 20वीं सदी के प्रारम्भिक दो दशकों में अनेक आयोगो की स्थापना की गयी थी।

15.2 प्रशासनिक सुधार

प्रशासनिक सुधार अर्थ एवं परिभाषा :– प्रशासनिक सुधार का आशय शासकीय मशीनरी इस प्रकार का

सुनियोजित परिवर्तन करना है जिससे प्रशासन की क्षमताएँ बढ़ सकें और वह सामाजिक लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु अधिक सक्रिय हो सके। प्रशासनिक सुधार में सरकार की संरचना में परिवर्तन से लेकर किसी विभाग या मन्त्रालय की कार्यप्रणाली में परिवर्तन एवं सुधार सम्मिलित होते है। नवीन विचारकों के अनुसार प्रशासनिक सुधार शब्द अफसरशाही क्रान्ति से उपजी प्रशासनिक प्रक्रियाओं की बुद्धिसंगत व्याख्या का पर्यायवाची होता है।

गेराल्ड केडन के अनुसार, प्रशासनिक सुधारों का अर्थ उस प्रक्रिया से है, जिसमें प्रशासनिक व्यवस्थाकार्यकुशलता एवं गुणवत्ता में वृद्धि करने के लिये कृत्रिम सुनियोजित ढंग से परिवर्तन किये जाते हैं।

माउण्टगोमरी के अनुसार, ''प्रशासनिक सुधार एक राजनीतिक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत अफसरशाही और समाज के अन्य तत्वों का नौकरशाही के अन्दर ही विभिन्न तत्वों के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाता जिससे लोक–सेवाओं आचरण में परिवर्तन लाया जा सकें।''

स्वतन्त्रता के बाद प्रशासन सुधार नेहरू युग (1947–1964) :– स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में संघीय शासन–व्यवस्था लागू की गयी। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें यह अनुभव कर रही थीं कि उन्हें नवीन राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करने तथा जनता की आकांक्षाओं एवं इच्छाओं को पूरा करने के लिए अपने प्रशासन में अनेक सुधार करने चाहिए। फलस्वरूप अनेक समितियों का गठन किया गया जिन्होंने प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में आवश्यक सुधार के लिए अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिए।

सचिवालय पुनर्गठन समिति, 1947 (The Secretariat Reorganization Committee) :- भारतीय लोक–सेवा के बहुत से अधिकारियों के पाकिस्तान तथा इंग्लैण्ड चले जाने के कारण रिक्त पदों की पूर्ति किस प्रकार की जाये। अधिकारियों की कमी की समस्या पर विचार करने हेतु जुलाई 1947 में गिरिजाशंकर बाजपेयी की अध्यक्षता में सचिवालय पुनर्गठन समिति की स्थापना की गयी थी।

मितव्ययिता समिति, 1948 :– 1948 में भारत सरकार ने एक मितव्ययिता समिति स्थापित की। इसके अध्यक्ष प्रमुख उद्योगपति कस्तूरभाई लालभाई थे। इसने केन्द्रीय सरकार के असैनिक व्यय को कम करने तथा प्रशासन में मितव्ययता लाने एवं अनावश्यक खर्चों को समाप्त करने से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सिफारिशें कीं।

आयंगर समिति, 1949 (Ayyanger Committee, 1949) :- सन् 1949 में एक सदस्यीय आयंगर समिति की स्थापना श्री एन0 गोपालस्वामी आयंगर की अध्यक्षता में गई। उनकी प्रमुख सिफारिश यह थी कि केन्द्रीय मन्त्रालयों को चार ब्यूरो में पुनर्गठित किया जाये।

गोरवाला आयोग, 1951 (Gorwala Commission, 1951) :- प्रशासकीय सुधारों से सम्बन्धित सुझावों एवं लोक–कल्याण से सम्बन्धित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए भारत सरकार ने 1951 में ए0डी0 गोरवाला के नेतृत्व में एक आयोग की स्थापना की। गोरवाला ने भारत में विद्यमान लोक प्रशासन की व्यवस्था और नौकर शाही ढांचे की मौलिक धारणाओं को बिना किसी प्रकार की क्षति के विद्यमान ढांचे में व्याप्त बुराईयों को दूर करने तथा उसे अधिक दृढ़ एवं सक्षम बनाने हेतु सिफारिशे प्रस्तुत की।

गोपालास्वामी प्रतिवेदन, 1952 (Gopalaswami Report, 1952) :- गोरवाला रिपोर्ट के एक वर्ष बाद 1952 में आर0ए0 गोपालास्वामी ने सरकारी तन्त्र की कार्यकुशलता की अभिवृद्धि पर अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। प्रतिवेदन में गोपालास्वामी आयंगर ने केन्द्रीय सरकार के सम्पूर्ण प्रशासनिक संगठन तथा कार्यप्रणाली की आलोचनात्मक समीक्षा की। मुख्य सिफारिश संगठन और प्रबन्ध सूचनालय स्थापित करने की थी। यह रिपोर्ट अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

पॉल एच0 ऐपल्बी प्रतिवेदन, 1953 (Paul H.A ppleby Report, 1953) :- सितम्बर 1952 में सरकार ने 'भारत में प्रशासनिक सुधारों' पर विचार करने के लिए लोक–प्रशासन के प्रसिद्ध विद्वान पॉल एच0 ऐपल्बी की नियुक्ति की। 1953 में ऐपल्बी ने 3,000 शब्दों का प्रतिवेदन–भारत में लोक–प्रशासन सर्वेक्षण का प्रतिवेदन–सरकार को प्रस्तुत किया। प्रतिवेदन में उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है कि भारत विश्व के लगभग उन 12 राष्ट्रों में से एक है, जहाँ का लोक–प्रशासन पर्याप्त रूप से संगठित एक विकसित है।

एक वर्ष बाद अशोक चन्द्रा ने एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसका शीर्षक था *"Notes on changes Necessary in System of BudgetaryA nd Financial ControlA nd in Other matters to Eliminate Delays in the Execution of Projects."* इस नोट के अन्तर्गत चन्द्रा ने ''अधिक प्रदाय से सम्बन्धित उपाय खोजना, अधिक

अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना, आदि की अनुशंसा की थी।''

पॉल ऐपल्बी की अनुशंसा के अनुसार 1954 में भारत में संगठन और प्रबन्ध (प्रणाली) संगठन केन्द्रीय सरकार में स्थापित किया गया। ओ0एण्ड0एम0 की स्थापना से संगठन सम्बन्धी कुछ समस्याएँ खड़ी हुई। संगठन के स्थान, ढाँचा, स्टाफ, क्षेत्र और कार्यों को निश्चित करने में कठिनाई का सामना करना पड़ा।

1952 में एक विशिष्ट पुनर्गठन इकाई की स्थापना की गयी थी जिसका कार्य मन्त्रियों के कर्मचारी वर्ग की आवश्यकताओं की समीक्षा करना तथा कार्य–कुशलता और मितव्ययता लाने के लिए उनमें आवश्यक परिवर्तनों की सिफारिश करना था।

इस दिशा में 1960 में एक साहसिक और कल्पनात्मक कदम के तहत तीनों इकाइयों–ओ0एण्ड0एम0, विशिष्ट पुनर्गठन इकाई और योजना कार्यक्रम समिति– की गतिविधियों में समन्वय स्थापित करने के लिए एक सामान्य प्रमुख नियुक्त किया गया। इस प्रकार तीनों इकाइयाँ प्रशासनिक कुशलता प्राप्त करने के महत्वपूर्ण लक्ष्य की पूर्ति के लिए सहयोग से कार्य कर रही हैं। 1953 के बाद ऐपल्बी दो बार पुनः भारत आये तथा 1956 में 59 पृष्ठ का द्वितीय प्रतिवेदन भारतीय व्यवस्था का पुनः परीक्षण सरकार के औद्योगिक एवं वाणिज्यिक उपक्रमों के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया।

सन्थानम समिति, 1963 (Santhanam Committee, 1963) :- 1962 में भ्रष्टाचार निवारण के लिए विद्यमान रोधकों की जाँच करने और भ्रष्टाचार–विरोधी कदमों को दृढ़ बनाने के लिए आवश्यक उपाय सुझाने हेतु के0 सन्थानम की अध्यक्षता में एक समिति–सन्थानम समिति गठित की गयी। 1964 में इस समिति ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। समिति ने भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए अनेक सुझाव प्रस्तुत किये जो निम्नवत हैः–

1. केन्द्र सरकार में एक केन्द्रीय सतर्कता आयोग स्थापित किया जाये।
2. समस्त पदाधिकारियों विधायकों और मंत्रियों को अपनी सम्पत्ति की घोषणा करनी चाहिए।
3. संविधान के अनुच्छेद 311 का संशोधन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि भ्रष्टाचार के मामलों में कानूनी कार्यवाही शीघ्रता पूर्वक और आसानी से की जा सके।
4. मंत्रियों के विरूद्ध भ्रष्टचार के आरोप की जांच करने के लिए एक राष्ट्रीय संस्था स्थापित करनी चाहिए जिस पर जनता का विश्वास हो।

15.3 प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग

प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग, 1966 (The FirstA dministrative Reforms Commission, 1966) :- 5 जनवरी, 1966 को भारत सरकार द्वारा भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग की नियुक्ति भारत के प्रशासकीय सुधारों के इतिहास में सीमचिह्न था। श्री मोरारजी देसाई आयोग के अध्यक्ष तथा श्री के0 हनुमन्तैया, एच0सी0 माथुर, जी0एस0 पाठक और एच0बी0 कामथ को सदस्य नियुक्त किया गया। मोरारजी देसाई के 1957 में संघीय मन्त्रिपरिषद् में सम्मिलित होने पर श्री के0 हनुमन्तैया को आयोग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

आयोग को ऐसे उपायों तथा साधनों पर विचार करने के लिए कहा गया जिनके द्वारा लोक–सेवकों में कार्यकुशलता और निष्ठा के उच्चतर स्तर प्राप्त किये जा सकें और लोक–प्रशासन को ऐसा उपयोगी यन्त्र बनाया जा सके जिसके माध्यम से सरकार की आर्थिक और सामाजिक नीतियों को क्रियान्वित करके विकास के आर्थिक एवं सामाजिक उद्देश्यों को पूर्ण किया जा सकें।

साथ में आयोग को निम्नलिखित बातों पर विशेष रूप से विचार करने के लिए निर्देश दिये गये भारत सरकार का प्रशासनिक संगठन तथा उसकी कार्य–पद्धति, प्रत्येक स्तर पर योजना का संगठन, केन्द्र–राज्य सम्बन्ध, वित्तीय प्रशासन, कार्मिक प्रशासन, आर्थिक प्रशासन, राजस्व प्रशासन, कृषि–प्रशासन, जिला प्रशासन तथा नागरिकों की शिकायतों के निवारण की समस्या आदि।

प्रथम प्रशासनिक सुधार आयोग की प्रमुख सिफारिशें :–

1. **जन अभियोग निराकरण की समस्याएँ** – प्रशासनिक सुधार आयोग का इस सम्बन्ध में यह मत था

कि लोक प्रशासकों के विरूद्ध जनता के अभियोगों के निराकरण के लिए दो संस्थाओं की रचना होनी चाहिए। केन्द्र व राज्यों के मन्त्रियों व सचिव स्तर के लोक सेवकों के विरूद्ध अभियोगों की जाँच के लिए लोकपाल नाम से एक अखिल भारतीय अधिकारी नियुक्त किया जाये। सचिव स्तर से नीचे के लिए केन्द्रीय सरकार तथा प्रत्येक राज्य सरकार में एक–एक लोक आयुक्त नामक अधिकारी हो। आयोग न यह सिफारिश की कि लोकपाल का स्तर, शक्तियाँ एवं सेवा की शर्तें भारत के मुख्य न्यायाधीश तथा लोक आयुक्तों की राज्यों के न्यायाधीशों के समान हों।

2. **भारत सरकार का प्रशासनिक यन्त्र** – मन्त्रिपरिषद् का आकार आवश्यकता के आधार पर निर्धारित किया जाये तथा मन्त्रियों के विभागों के वितरण में मन्त्रालयों का विवेकसम्मत समायोजन किया जाये। मन्त्रिमण्डल सचिवालय के सचिव की भूमिका प्रधानमंत्री, मन्त्रिमण्डल एवं मन्त्रिमण्डल समितियों के मुख्यों, परामर्शदाता एवं समन्वयकर्ता की होनी चाहिए।

3. **नियोजन तन्त्र** – आयोग का मत था कि प्रधानमन्त्री को योजना आयोग का अध्यक्ष नहीं बनाया जाना चाहिए, किन्तु उसके कार्यों से प्रधानमन्त्री का निकट सम्पर्क अवश्य है। वित्त मन्त्री भी योजना आयोग का सदस्य नहीं होगा। योजना आयोग में अन्य किसी मन्त्री को भी सदस्य नहीं बनाया जायेगा। योजना आयोग के सदस्यों की संख्या 7 से अधिक नहीं होनी चाहिए। इनका चयन अनुभव एवं विशेषज्ञता के आधार पर किया जाना चाहिए। योजना आयोग के सदस्यों को राज्य मन्त्री और उपाध्यक्ष को केबिनेट मन्त्री का स्तर प्रदान किया जाना चाहिए।

4. **केन्द्र–राज्य सम्बन्ध** – संविधान के अनुच्छेद 263 के तहत् अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना की जानी चाहिए। इस परिषद् का अध्यक्ष प्रधानमन्त्री हो तथा वित्त–मंत्री, गृह मंत्री, विरोधी दल का नेता तथा प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् का एक–एक प्रतिनिधि भी इसके सदस्य होने चाहिए।

5. **कार्मिक प्रशासन** – सरकारी कर्मचारियों को किसी प्रकार की हड़ताल का अधिकार नहीं होना चाहिए। उनकी शिकायतों को संयुक्त विचार–विमर्श परिषद् और नागरिक सेवक न्यायाधिकरण के माध्यम से ही हल किया जाना चाहिए।

6. **वित्त, लेखा और लेखा परीक्षा** – विकास कार्यों से सम्बन्धित विभागों को निष्पादन बजट पद्धति अपनानी चाहिए, लेखा परीक्षा का दृष्टिकोण सकारात्मक और रचनात्मक होना चाहिए, प्रचलित आन्तरिक वित्त के परामर्श की पद्धति को दृढ़ बनाया जाना चाहिए

7. **लोक उपक्रम** – सरकारी अधिकारियों को अस्थायी रूप से लोक उपक्रमों में भेजने की प्रथा समाप्त की जानी चाहिए, मुख्य क्षेत्रों के लोक उपक्रमों के लिए क्षेत्रक निगम प्रणाली स्थापित की जानी चाहिए, लोक उपक्रम के ब्यूरो का पुनर्गठन किया जाना चाहिए, लोक उपक्रमों के विशिष्ट समूहों के लिए लेखा परीक्षा मण्डल स्थापित स्थापित किये जाने चाहिए।

8. **राज्यपाल की भूमिका** – राज्यपाल उस व्यक्ति को बनाया जाये जिसे प्रशासन तथा सार्वजनिक जीवन का दीर्घ अनुभव हो। कार्यकाल समाप्त होने पर उसे पुनर्नियुक्त न किया जाय। अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों को इस पद के लिये उपयुक्त न समझा जाये। राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व उस राज्य के मुख्यमंत्री को विश्वास में लिया जाये।

9. **कार्मिक प्रशासन पर प्रतिवेदन** – कार्मिक प्रशासन पर प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्ट अप्रैल 1969 में प्रस्तुत की। इस प्रतिवेदन के सम्बन्ध में स्वयं हनुमन्तैया ने कहा था कि ''यह अधिकतम महत्वपूर्ण प्रलेखों में से एक है।'' आयोग का विचार था कि सरकार के कार्य बढ़ गये हैं और सेवाओं का गठन कार्यात्मक आधार किया जाये। इस दृष्टि से सेवाओं को आठ भागों में विभाजित किया गया

(1) आर्थिक प्रशासन, (2) औद्योगिक प्रशासन, (3) कृषि एवं ग्रामीण विकास प्रशासन, (4) सामाजिक एवं शैक्षणिक प्रशासन, (5) कार्मिक समस्या अथवा प्रशासन, (6) वित्तीय प्रशासन, (7) प्रतिरक्षा प्रशासन तथा आन्तरिक सुरक्षा, (8) नियोजन।

10. **राज्यस्तरीय प्रशासन** – राज्य में राष्ट्रपति शासन के समय संघ सरकार द्वारा अधिक हस्तपेक्ष नहीं किया जाना चाहिए तथा राज्यपाल एवं उसके परामर्शदाताओं को उनकी इच्छानुसार शासन चलाने देना चाहिए।

राज्य में विभागों की संख्या 13 से अधिक नहीं होना चाहिए। प्रत्येक राज्य में एक नये विभाग–कार्मिक विभाग की स्थापना की जानी चाहिए। राज्य में लोकायुक्त की नियुक्ति की जानी चाहिए।

11. जिला प्रशासन – जिला प्रशासन को दो भागों में विभाजित किया जाये नियामकीय तथा विकासात्मक। पहले का अध्यक्ष जिला कलक्टर होना चाहिए। एक वरिष्ठ अधिकारी को जिले का विकास अधिकारी नियुक्त किया जाये जो कि जिला परिषद् का अधिशासी पदाधिकारी हो।

सरकारिया आयोग, 1983 (The Sarkaria Commission, 1983) :- केन्द्र–राज्य सम्बन्धों के सम्पूर्ण ढाँचे पर विचार करने के लिए सरकार ने मार्च 1983 में एक सदस्यीय आयोग की सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश जे0 सरकारिया की अध्यक्षता में नियुक्त किया। सरकारिया आयोग ने 1988 में अपनी सर्वसम्मत रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की। आयोग की रिपोर्ट 1,600 पृष्ठों की है और दो खण्डों में हैं। सरकारिया आयोग की मुख्य सिफारिशें निम्न थीं–

सुदृढ़ केन्द्र की अपरिहार्यता – सरकारिया आयोग केन्द्र के अधिकार कम करने के अधिकतर प्रस्तावों के खिलाफ है। आयोग ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, ''संविधान के मूल स्वरूप में कोई प्रबल परिवर्तन न तो उचित है और न ही आवश्यक।

राज्यों में राष्ट्रपति शासन अन्तिम विकल्प के रूप में लागू हो – आयोग ने कहा है कि किसी राज्य में संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन तभी लागू करना चाहिए जब कोई दूसरा रास्ता न रह गया हो। आयोग के अनुसार, ''यह उपाय बहुत कम अपनाना चाहिए केन्द्र को तभी हस्तक्षेप करना चाहिए, जबकि राज्य का कामकाज संविधान में दी गयी व्यवस्था के अनुरूप चलाना असम्भव हो जाय।'' आयोग ने कहा है कि ''संविधान के अनुच्छेद 352 में जिस प्रकार आपातकाल की घोषणा के बारे में लोकसभा की अनुमति और इस विचार करने के लिए लोकसभा का विशेष अधिवेशन बुलाने की व्यवस्था है, वैसी ही व्यवस्था किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन की घोषणा के बारे में भी होनी चाहिए।''

वित्तीय व्यवस्था – अपने सुझाव में आयोग ने कहा कि ''प्रकोष्ठ को वित्त आयोग के मानदण्डों में परिवर्तन का वार्षिक अनुमान भी लगाना चाहिए। इसके बाद 'योजना आयोग' वित्त आयोग के पूर्वानुमानों में परिवर्तन व उसके कारण तथा अन्य की वार्षिक समीक्षा को राष्ट्रीय आर्थिक व विकास परिषद् के समक्ष पेश करने में समर्थ होगा।''

सरकारिया आयोग – का मानना है कि ''वित्त आयोग को अपने कार्य के लिए देश के विभिन्न भागों में विशेषज्ञ नियुक्त करने चाहिए।''

केन्द्र और राज्य के मध्य करों का विभाजन – आयोग ने सिफारिश की है कि निगम कर के उचित बंटवारे के लिए संविधान में संशोधन किया जाये। आयोग ने राज्यों की इस मांग को अस्वीकार कर दिया कि उन्हें उत्पाद कर के एवज में बिक्री कर में अधिक हिस्सा दिया जाये। संघ सरकार को आयकर पर अधिभार नहीं लगाना चाहिए सिवाय किसी विशेष प्रयोजन से तथा सीमित अवधि के लिए।

समवर्ती सूची के विषय – आयोग ने सलाह दी है कि समवर्ती सूची के मामलों पर केन्द्र सरकार व राज्यों में विचार–विमर्श होना चाहिए, जो कि इस समय नहीं हो रहा है। संघ सूची में उल्लेखित विषय संख्या 97 (Entry 97) जिसमें कि अवशिष्ट विषयों का उल्लेख है, कर लगाने सम्बन्धी मामलों को छोड़कर इस समवर्ती सूची में रखा जाना चाहिए।

राज्यों को ऋण – आयोग का मत है कि राज्यों को ऋण देने की पद्धति पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए तथा केन्द्र द्वारा प्रायोजित परियोजनाओं की संख्या कम से कम रखी जानी चाहिए, खासकर योजना अवधि के बीच में कोई नयी परियोजना शुरू नहीं की जानी चाहिए।

राज्यों में केन्द्रीय रक्षा बल – आयोग ने कहा है कि राज्यों में केन्द्रीय रक्षा बलों को तैनात करने के मामले में केन्द्र को निर्णय लेने का पूरा अधिकार होना चाहिए। यदि आवश्यक हो और केन्द्र सरकार चाहे तो राज्य सरकार की इच्छा के विपरीत भी राज्यों में सुरक्षा बल तैनात कर सकती हैं।

राष्ट्रपति के विचारार्थ राज्यपाल द्वारा विधेयकों का अभिरक्षण – राष्ट्रपति के विचार के लिए रखे गये किसी विधेयक का निपटारा राष्ट्रपति द्वारा उस तारीख से 4 माह की अवधि के भीतर किया जाना चाहिए जिस

तारीख को यह संघ सरकार को प्राप्त होता है। तथापि, यदि राज्य सरकार से स्पष्टीकरण मांगना अथवा अनुच्छेद 201 के परन्तुक के अधीन, राज्य विधानमण्डल के पुनः विचार करने के लिए विधेयक को वापस करना आवश्यक समझा जाये तो यह कार्यवाही उस तारीख से 2 माह के भीतर की जाये जिस तारीख को संघ सरकार को मूल पत्र प्राप्त हुआ था।

अखिल भारतीय सेवा – सरकारिया आयोग ने इन्जीरियरी, चिकित्सा और शिक्षा के लिए अखिल भारतीय सेवा गठित करने का सुझाव दिया है। आयोग ने कृषि, सहकारिता और उद्योग के लिए भी अखिल भारतीय सेवा का गठन करने का सिफारिश की है।

योजना आयोग – सरकारिया आयोग इस बात के पक्ष में नहीं है कि योजना आयोग को स्वायत्त संस्था बना दिया जाये। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि ''ऐसे स्वायत्त संगठन का कामकाज पचड़ों, अडियल रूख और पेचीदगियों से ग्रस्त होगा। आयोग का यह भी मानना है कि योजना आयोग को केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से बाहर नहीं होना चाहिए।''

राष्ट्रीय विकास परिषद् – सरकारिया आयोग का सुझाव है कि 'राष्ट्रीय विकास परिषद्' को और अधिक प्रभावी बनाया जाना चाहिए ताकि वह केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच राजनीतिक स्तर की सर्वोच्च संस्था हो सके।

अन्तर्राज्यीय परिषद् – सरकारिया आयोग के अनुच्छेद 263 में उल्लिखित 'अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना पर जोर दिया है। अन्तर्राज्यीय परिषद् 263 के खण्ड (ख) और (ग) में निर्धारित कर्तव्य सौंपे जाने चाहिए, सामाजिक–आर्थिक आयोजन और विकास को छोड़कर।

फजल समिति, 1980–82 तथा झा आयोग 1981–85 (The Fazal Committee, 1980–82A nd The Jha Commission, 1981-85) :- 'लोक उपक्रमों' पर गठित फजल समिति (1980–82) ने लोक उपक्रमों को उत्तरदायी बनाने पर विशेष बल दिया। उत्तरदायित्व पर अपनी रिपोर्ट में झा आयोग (1981–85) ने प्रदर्शनों और परिणामों पर बल दिया न कि नियमों और प्रक्रियाओं पर। फजल समिति और झा आयोग दोनों ने लोक उपक्रमों में दण्ड और पुरस्कार पर आधारित प्रणाली को विकसित करने पर जोर दिया। इस योजना के तहत संयुक्त सचिव स्तर परअधिकारियों के नाम सहित कार्यों, गतिविधियों तथा उत्तदायित्व केन्द्र स्थापित हुए। 1985 में कार्मिक लोक शिकायत और पेंशन मन्त्रालय की स्थापना की गयी और इस मन्त्रालय को सीधे प्रधानमन्त्री के नियन्त्रण में रखा गया और उसकी सहायता के लिए एक राज्यमन्त्री का प्रावधान किया गया। राजीव गांधी ने 1985 में कार्य संस्कृति तथा प्रशासन को सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के अनुकूल बनाने के अनेक कदमों की घोषणा की। 1985 में प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में परियोजना क्रियान्वयन के साथ प्रबन्धक विकसित किया। लोक उपक्रमों के लिए एक नई व्यवस्था 'समझौता ज्ञापिका' (एम0ओ0यू0) अपनायी गई।

पंचम् वेतन आयोग की सिफारिशें (Recomendations of fifth Pay Commission) :- सर्वोच्चन्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश एस0आर0 पाण्डियन की अध्यक्षता वाले 'पंचम् केन्द्रीय वेतन आयोग' ने अपनी रिपोर्ट जनवरी 1997 को तीन खण्डों के 1600 पृष्ठों में तत्कालीन वित्तमंत्री पी0 चिदम्बरम् को प्रस्तुत की। अपनी रिपोर्ट में वेतन आयोग ने कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि के साथ–साथ कुछ प्रशासनिक सुधारों की कुछ सिफारिशें भी की–

आर्थिक मामलों में आयोग ने सरकार को अपनी सक्रियता कम करने की सलाह दी है। उसे केवल उन कार्यों तक ही सीमित रखना होगा जो बाजार द्वारा नियंत्रित नहीं किये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में आयोग की मुख्य सिफारिशे है : परमिट लाइसेन्स प्रणाली समाप्त करना, लोक उपक्रमों में विनिवेश, विभागीय उपक्रमों का निगमीकरण करना तथा सरकार द्वारा नियंत्रित सेवाओं में निजीकरण तथा अनुबन्ध प्रणालियों को प्रोत्साहित करना। इस प्रकार सरकार को केवल प्रमुख (कोर) कार्यों को ही करना चाहिए।

नवीन सुधार (New Reforms) :- भारत में प्रशासनिक सुधार की दिशा के प्रयासों में प्रशासनिक सुधार और लोक शिकायत विभाग नोडल इकाई के रूप में निम्नलिखित कार्य कर रहा है–

(1) **ई–गवर्नेन्स के लिए न्यूनतम कार्यसूची** :– सरकार में सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग करके प्रशासनिक कार्यकुशलता में सुधार हेतु मन्त्रिमण्डल सचिव की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया है। फलस्वरूप अनेक मन्त्रालयों/विभागों तथा अन्य सरकारी प्राप्त करने में सहायता मिल रही हैं।

(2) सरकार के कार्यों में सुधार, गुणवत्ता, प्रबन्धन की सार्थकता, पारदर्शी तथा जवाबदेह बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं। इस दिशा में गुणवत्ता प्रबन्धन लागू करने की दिशा में कार्मिक, लोक शिकायत तथा पेंशन मन्त्रालय एक परियोजना को लागू कर रहा हैं।

(3) **नागरिक चार्टर** :– उपर्युक्त विभाग सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों, विभागों/मन्त्रालयों द्वारा अपने–अपने क्षेत्रों के लिए तैयार किये गये नागरिक चार्टरों के सृजन एवं प्रचालन हेतु किए गये प्रयासों में समन्वय करता है। आजकल नागरिक का महत्व बढ़ता जा रहा है। चार्टरों में संगठन की वचनबद्धता, सेवा डिलीवरी के मानक, समय–सीमा, शिकायत–निवारण तन्त्र, जवाबदेही आदि के सुनिश्चित किये जाने से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख किया जाता है।

(4) **सूचना एवं सुविधा काउण्टर** :– भारत सरकार के विभिन्न विभागों/मन्त्रालयों संगठनों में कम्प्यूटरीकृत सूचना और सुविधा काउण्टर स्थापित किये गये हैं। इनके द्वारा जनता को सम्बन्धित संगठन की योजनाओं तथा कार्यविधियों से सम्बन्धित सूचनाएँ और सहायता व्यक्तिगत आवेदन–पत्रों की शिकायतों की स्थिति के विषय में जानकारी उपलब्ध करायी जाती हैं।

प्रक्रिया सम्बन्धी सुधार समिति, 2000 (Committee for Process Related Reforms, 2000) :- 7 जुलाई, 200 को लिए गये निर्णय की पृष्ठभूमि में 31 जुलाई, 2000 को सरकार में प्रक्रियात्मक सुधारों को लागू करने के लिए सुझाव देने हेतु निम्नांकित चार समितियाँ गठित की गई–

1. वरिष्ठ पदों पर नियुक्ति के लिए समिति,
2. सतर्कता प्रक्रिया के लिए समिति,
3. सेवा सम्बन्धी विधिक विवादों के लिए समिति,
4. भर्ती नियमों में सुधार के लिए समिति।

व्यय सुधार आयोग, 2001 (Expenditure Reforms Commission, 2001) :- 2001 में के0पी0 गीताकृष्णन की अध्यक्षता में व्यय सुधार आयोग गठित किया गया था। आयोग ने सितम्बर तक कुल 10 रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए केन्द्र सरकार के 36 मन्त्रालयों के 24,326 पद अनुपयोगी मानते हुए उन्हें समाप्त करने की अनुशंसा की थी। भारत सरकार ने आयोग की अनुशंसाएँ स्वीकार करते हुए 16,699 पद समाप्त कर दिये हैं।

अलघ समिति, 2000 (Alagh Committee, 2000) :- संघ लोक सेवा आयोग ने 19 जुलाई, 2000 में प्रो0 योगेन्द्र कुमार अलघ की अध्यक्षता में सिविल सेवा परीक्षा की वर्तमान योजना की पुनरीक्षा के लिये इस समिति की नियुक्ति की। समिति ने अपनी रिपोर्ट 2001 में प्रस्तुत की। अनुशंसा में सिविल सेवा परीक्षाओं में प्रवेश होने वाले उम्मीदवारों की पात्रता के बारे में मानदण्ड, प्रारम्भिक और मुख्य परीक्षाओं की योजना, व्यक्तिगत परीक्षण, सेवा–निर्धारण तथा प्रशिक्षण में प्रवेश करने के मुद्दे तथा सेवाओं का प्रबन्ध सम्मिलित हैं।

होता समिति, 2004 (Hota Committee, 2004) :- अखिल भारतीय सेवाओं और संगठित वर्ग 'ए' केन्द्रीय सेवाओं को शामिल करके सिविल सेवा सुधारों की सम्पूर्ण प्रक्रिया की जाँच करने और सरकार के विचारार्थ सिफारिशें प्रस्तुत करने हेतु संघ लोक सेवा आयोग के पूर्व अध्यक्ष पी0सी0 होता की अध्यक्षता में 3 फरवरी, 2004 को एक समिति गठित की गयी। समिति से यह कहा गया था कि प्रशासनिक तन्त्र को उच्च पदस्थ लोगों, नेताओं और निहित स्वार्थों के अनुचित दबावों से मुक्त करने की सिफारिशें प्रस्तुत करे। समिति ने 68 सिफारिशें प्रस्तुत की थीं। मुख्य सिफारिशें–प्रशासनिक सेवाओं में प्रवेश की आयु कम करने, बेईमानी से अर्जित सम्पत्ति जब्त करने, 15 वर्ष बाद कामकाज की समीक्षा कर अक्षम अधिकारियों को हटाने और भ्रष्ट अधिकारियों की बर्खास्तगी के लिये संविधान में संशोधन के सुझाव दिये थे।

द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग, 2005 (The SecondA dministrative Reforms Commission 2005) :- 31 अगस्त 2005 को केन्द्र सरकार ने प्रशासन को चुस्त–दुरूस्त करने के उद्देश्य से कर्नाटक के पूर्व मुख्यमंत्री श्री वीरप्पा मोइली की अध्यक्षता में पाँच सदस्यीय दूसरे प्रशासनिक आयोग का गठन किया। इस आयोग का प्रमुख कार्य मन्त्रालयों और विभागों का पुनर्गठन करना और उनकी भूमिका को वैश्वीकरण के दौर अनुरूप बनाना था। आयोग ने 2006 से 2009 के मध्य विभिन्न मुद्दों पर विचार–विमर्श के उपरान्त अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की जिसमें सुशासन के लिए सूचना के अधिकार की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया,

सभी के लिए न्याय तथा शान्ति कार्मिक प्रशासन का पुनर्संयोजन, नागरिक केन्द्रित प्रशासन तथा ई–गवर्नेंस को प्रोत्साहित करने जैसे महत्वपूर्ण विषयों को समाहित किया गया था।

प्रशासनिक सुधार की प्रक्रिया में फरवरी 1973 में प्रशासकीय सुधार विभाग को 'गृह मन्त्रालय' से पृथक करके 'मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय' में संलग्न कर दिया गया। 1970 में सेवीवर्ग विभाग का नाम बदल दिया गया, जिसकी स्थापना मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय के अधीन की गयी थी। फरवरी 1973 में इसका नाम सेवीवर्ग तथा प्रशासकीय सुधार विभाग कर दिया गया। 1977 में इस विभाग को मन्त्रिमण्डलीय सचिवालय से हटाकर पुनः गृह–मन्त्रालय के साथ संयुक्त कर दिया गया।

प्रशासकीय सुधार विभाग के कार्य :– विभाग को निम्नलिखित कार्य सौंपे गये थे :

1. महत्वपूर्ण समस्याओं का पता लगाना और उनके सम्बन्ध में अध्ययन की पहल करना।
2. कुछ विभागों के संगठन और प्रक्रियाओं का परीक्षण इस आशय से करना जिससे प्रशासनिक तन्त्र के विभिन्न स्तरों पर भ्रष्टाचार सम्बन्धी समस्याओं का निराकरण किया जा सके।
3. नागरिक की शिकायतों के निराकरण के लिए किसी मशीनरी की व्यवस्था करना।
4. अतीत में स्थापित समितियों तथा आयोगों द्वारा की गयी सिफारिशों का यथाशीघ्र अध्ययन कर लागू करने का प्रयास करना।
5. देश की प्रशासनिक व्यवस्था के निरीक्षण के लिए एक व्यापक पृष्ठभूमि तैयार करना।
6. ओ0 एण्ड एम0 सम्भाग के पहले के कार्यों को करते रहना।

15.4 सारांश

भारत में प्रशासनिक सुधारों के लिए अनेको आयोग तथा समितियां समय–समय पर गठित की गयी तथा उनकी अनुसंशाओं के आधार पर सुधार भी किए गए किन्तु प्रशासनिक तन्त्र में अभी भी आशातीत परिवर्तन दिखाई नही देता है। अनेक प्रकार की समस्याएं जैसे प्रशासन में व्याप्त लालफीताशाही, भ्रष्टाचार, भाई–भतीजावाद आदि आज भी मौजूद है। नौकरशाही की कठोर विलम्बाकारी तथा नियमबद्ध नितियों के सतय से क्रियान्वयन के मार्ग में एक बढ़ी बाधा आज भी है। कहीं न कही नियमों कानूनों और प्रक्रियाओं के भ्रम जाल में प्रशासनिक क्रियान्वयन भी उलझ जाता है। राजनीतिक इच्छाशक्ति का आभाव तथा प्रशासनिक स्तर पर व्याप्त उदासीनता की मनोवृत्ति के कारण ही सुधारों एवं क्रियान्वयन के सुपरिणाम सामने नही आ पाते। विकास की दिशा में लोक प्रशासन की सफलता की कुन्जी नीतियों का सफल क्रियान्वयन है।

15.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5. **भारतीय प्रशासन** :– डॉ0 अवस्थी एण्ड अवस्थी, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा
6. **कार्मिक प्रशासन** :– सुरेन्द्र कटारिया, आर0बी0एस0ए0 प्रकाशक जयपुर
7. **भारत में लोक प्रशासन** :– बाबू लाल फाड़िया, साहित्य भवन आगरा
8. **भारतीय प्रशासन** :– प्रो0 मधुसूदन त्रिपाठी, ओमेगा पब्लिकेशन, दिल्ली।

15.6 बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :–

1. प्रशासनिक सुधार आयोग के प्रथम सभापति थे।

    (a) मोरारजी देसाई

    (b) सुभाष चन्द्र

    (c) लाल बहादुर शास्त्री

2. सरकारिया आयोग 1983 निम्न में से किससे संबंधित है?

(a) केंद्र–राज्य सम्बन्ध (b) दबाव समूह

(c) पंचायती राज (d) पुलिस सुधार

लघुउत्त्तरीय प्रश्न :–

1. प्रशासनिक सुधार में आने वाली रूकावटें कौन–कौन सी हैं?
2. प्रशासनिक व्यवस्था क्या है?
3. कोठारी आयोग क्यों गठित किया गया?
4. प्रशासनिक सुधार की आवश्यकता की विवेचना कीजिए।